श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतः-द्वितीयः

बालबोधः

तिसृभिष्टीकाभिः समलंकृतः

१. श्रीदेवकीनन्दनानां प्रकाशः

२. श्रीपुरुषोत्तमानां विवृतिः

३. श्रीद्वारकेशानां टीका

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायस्य-सप्त-पीठान्तर्गत-प्रथम-पीठाधिष्ठित-गोस्वामिश्री १००८ श्रीरणछोडाचार्य(अ. भा. पु वै. परिषत्प्रचाराध्यक्ष) महाराजश्रीत्येतैः प्रकाशितः

वि. सं. २०३६ श्रीवल्लभाब्दाः ५०२

श्रीमद्–वल्लभाचार्य–महाप्रभु–विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतः-द्वितीयः

बालबोधः

तिसृभिष्टीकाभिः समलंकृतः

१. श्रीदेवकीनन्दनानां प्रकाशः

२. श्रीपुरुषोत्तमानां विवृतिः

३. श्रीद्वारकेशानां टीका

श्रीमद्–वल्लभाचार्य–महाप्रभु–प्रवर्तित–शुद्धाद्वैत–सम्प्रदायस्य–सप्त–
पीठान्तर्गत–प्रथम-पीठाधिष्ठित-गोस्वामिश्री १००८ श्रीरणछोडा-
चार्य(अ. भा. पु वै. परिषत्प्रचाराध्यक्ष) महाराजश्रीत्येतैः :
प्रकाशित :

वि. सं. २०३६ श्रीवल्लभाब्दाः ५०२

प्रकाशक:

गोस्वामिश्री १००८ श्री रणछोडाचार्य 'प्रथमेश'

गिरधर निवास, जतिपुरा, गोवर्धन, मथुरा, २८१५०२, भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति

राज संस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाब्द: ५०२

ग्रन्थ-परिचय लेखक : **गोस्वामी श्याम मनोहर**

मुद्रक :

स्टुडियो बहार, २३–ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी,

बम्बई–४०० ००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्री रणछोडाचार्य 'प्रथमेश'

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

ग्रन्थ-परिचय

एक किंवदन्तीके[1] अनुसार 'बालबोध' ग्रन्थका प्रणयन श्रीमहाप्रभुने वि. सं. १५५० में पुष्कर राजमें[2] किया था. ८४ वैष्णवन की वार्ता ५७ मी के भाव प्रकाशके अनुसार अम्बालाके नारायणदास कायस्थको यह बालबोध स्वयम् श्रीमहाप्रभुने द्वारकामें पढ़ाया था.

नारायणदासके पिता सरकारी दफ्तरमें नोकरी करते थे. बीस वर्षकी आयुमें नारायणदासको जूआ खेलनेकी लत लग गयी और इसके कारण घर छोड़कर भागना पडा. भटकते हुए दक्षिणमें कहीं जाकर कुछ विद्यार्जन किया और बजारमें बच्चोंको पढ़ानेकी एक दुकान खोल ली. पढ़ाते समय विद्यार्थी बालकोंका प्रताडन और प्रबोधन दोनों कठोरतासे करते थे! श्रीमहाप्रभुके सेवक कृष्णदासके टोकनेपर भी एकबार किसी विद्यार्थी बालककी पिटाई करने पर जब वह बेहोश हो गया तभी इन्हे अपनी कठोरताका होश आया. भाग कर सीधे कृष्णदासके पास आये और उनके द्वारा श्रीमहाप्रभुके सम्मुख उपस्थित हुए. श्रीमहाप्रभुके प्रतापसे तब वह बालक और नारायणदास दोनों ही स्वस्थ होगये. दीक्षित होनेके बाद दक्षिणसे द्वारकातककी यात्रामें ये श्रीमहाप्रभुके साथ रहे. द्वारकामें इन्हें जब घर लौटने आज्ञा दी गई तब स्वधर्मनिर्वाहकी इनकी चिन्ताका निवारण श्रीमहाप्रभुने–"तोसों स्वरूपसेवा निबहेगी नाहीं. पराई चाकरी करनी. घरपें कोउ सेवक नाही. ताते हस्ताक्षर लिख देत हों सामग्री जो बने सो भोग धरिके महाप्रसाद लीजियो"–कह कर किया. गद्यमन्त्र तथा अष्टाक्षर सेवार्थ लिखकर पधरा दिये. नारायणदासकी बिनती पर कि "महाराज इतने दिन आपके पास रहयो परन्तु मेरे अन्तःकरणमें बोध न भयो. सो ऐसी कृपा करो जो संसारको दुःख-सुख कछु मोकों बाधा

---

१. श्रीनागरदास बांभनिया शास्त्रीजी द्वारा लिखित लेख "श्रीषोडशग्रन्थनी रचना... महत्वनी तवारीखो". वैष्णववाणी अंक ४ वर्ष १९७९.

२. दृष्टव्यः श्रीयदुनाथजीकृत श्रीवल्लभदिग्विजय मध्यम यात्रा प्रकरण

न करे अरु चित्त श्रीठाकोरजीके चरणारविन्दमे लग्यो रहे". श्रीमहाप्रभुने अपना चरणामृत दिया और उन्हें यह बालबोध ग्रन्थ पढ़ाया.

बालबोधमें सर्वसिध्दान्तोंका संग्रहरूपेण निरूपण है किन्तु स्वसिध्दान्तका नहीं. अन्यान्य सिध्दान्तोंके साधन एवम् फलों का एकबार बराबर ज्ञान हो जानेपर पुष्टिजीवके अन्य मार्गोंपर भटक जानेका भय नहीं रह जाता. सभी मोक्षशास्त्र या तो सांसारिक दु:ख दूर करनेके रूपमे या फिर पारलौकिक सुखकी प्राप्तिके रूपमे मोक्षका प्रतिपादन करते हैं. इस संसारमें रहते हुए भी भगवत्सेवा और/अथवा भगवत्कथा के द्वारा भजनानन्दकी प्राप्ति ही पुष्टि-जीवके लिए मोक्ष है. इसका निरूपण किन्तु चतुश्लोकीमे किया जायेगा. यहां वह विवक्षित नहीं है.

वैसे तो मनुष्यके मनमे अगणित कामना या महत्त्वाकांक्षा भरी रहती हैं. विद्वानोंने उन्हे किन्तु चार पुरूषार्थोके रूपमे वर्गीकृत किया है: (१) धर्म (२) अर्थ (३) काम और (४) मोक्ष. स्थूल अर्थोमे इन्हे क्रमश: (१) कर्तव्य (२) सम्पदा (३) प्रेयस् और (४) श्रेयस् कह सकते हैं. जीवनमे दिखलाई देती हर तरहकी कामनाओंका इन चार पुरूषार्थोंमे अन्तर्भाव हो जाता है. इनके वास्तविक सहज एवम् शुभ स्वरूपकी जिज्ञासाका समाधान अलौकिक वेदादि शास्त्रोंमे भी मिलता हे तथा विभिन्न ऋषियोंके द्वारा प्रणीत आर्ष शास्त्रोंमे भी.

प्रस्तुत बालबोध ग्रन्थमे वैदिक धर्मार्थकाममोक्ष पुरूषार्थोंका निरूपण अभिप्रेत नही है. वह तो सर्वनिर्णयमे ही विशदतया निरूपित हो गया हैं. आर्ष अथवा लौकिक शास्त्र, जिनमे त्रिवर्ग धर्म अर्थ या काम पुरूषार्थ का निरूपण किया गया है, यहां उन शास्त्रोंका विवेचन भी अभिप्रेत नहीं है. यहां तो केवल अन्यान्य ऋषियों द्वारा प्रणीत मोक्षशास्त्र और उनमे प्रतिपाद्य मोक्षस्व-रूपके बारेमें ही श्रीमहाप्रभु अपना अभिमत प्रगट करना चाहते हैं.

मोक्षका निरूपण करनेवाले विभिन्न ऋषियोंद्वारा प्रणीत शास्त्रोंमें चार शास्त्र प्रमुख है. अन्य शास्त्रोंका या तो इन्हींमें अन्तर्भाव समझना चाहीये या फिर उन्हें सिद्धान्तत: उपेक्षणीय ही समझना चाहिये.

मोक्षप्रतिपादक ऋषिप्रोक्त चार शास्त्र :

(१) त्यागसे स्वतोमोक्षका प्रतिपादक सांख्यशास्त्र

(२) अत्यागसे स्वतोमोक्षका प्रतिपादक योगशास्त्र

(३) शिवकी भक्ति या प्रपत्ति से परतोमोक्षका प्रतिपादक शैवतन्त्र

(४) विष्णुकी भक्ति या प्रपत्ति से परतोमोक्षका प्रतिपादक वैष्णवतन्त्र

(१) बाह्यत्याग द्वारा स्वतोमोक्षका प्रतिपादन करनेवाले सांख्यशास्त्रके अनुसार अहन्ता-ममताके सर्वथा नष्ट होनेपर जीवात्माका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना ही मोक्ष माना गया है. तत्तत् कालमें विभिन्न ऋषियोंने सांख्यशास्त्रका वर्णन अनेकविध प्रक्रियाओंके आधारपर किया है. पर मोक्षप्राप्तिके उपाय और स्वरूप के बारेमें प्राय: एकवाक्यता है.

श्रीमहाप्रभुके अनुसार सांख्यशास्त्रीय प्रणालीका जो रूप मान्य वेदादि शास्त्रोंमें वर्णित हुआ है तदनुसार साधनाचरण करनेपर ही उल्लिखित प्रकारका मोक्षलाभ सांख्यसे मिल सकता है. अन्यथा नही.

(२) चित्तवृत्ति—निरोधकी यौगिक प्रणालीसे स्वतोमोक्षका प्रतिपादन करनेवाले योगशास्त्रके अनुसार विषयोंके बाह्यत्यागकी उतनी अपेक्षा नहीं है जितनी कि यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा-समाधिके बाह्य तथा आन्तरिक समुचित उपायोंसे अनात्मरूप विषयोंमें भटकती चित्त-वृत्तिके निरोधकी आवश्यकता है. चित्तवृत्तिके निरुद्ध होनेपर ही आत्मा अपने स्वरूपमें अवस्थित या मुक्त हो सकती है.

श्रीमहाप्रभुके अनुसार इन योगशास्त्रीय उपायोंका निरूपण मान्य वेदादि शास्त्रोंमें भी उपलब्ध होता है अत: तदनुसार अनुष्ठान करनेपर ही मोक्ष-प्राप्तिकी सम्भावना है. वैदिक प्रणालीसे विपरीतता बरतनेपर आत्माकी स्वरूपमें अवस्थिति सम्भव नहीं.

(३) परतोमोक्षवादी पाशुपतादि शैवतन्त्रोंके अनुसार साधना करनेपर शिवके द्वारा भी मुक्ति मिल सकती है.

श्रीमहाप्रभुके अनुसार क्योंकि सर्वात्मक निर्दोषपूर्णगुण ब्रह्म ही अथर्व-शिखा आदि उपनिषदोंके अनुसार जगत्संहारक शिवका रूप धारण करता है. अत: शिवके मुक्तिदाता होनेमें किसी सन्देहका अवसर नही है. फिरभी शिवके रूपमें भगवान् स्वयम् मुक्तताके आनन्दके उपभोगकी लीला करते हैं.

अतः शिवसे उनकी स्वोपभोग्य मुक्तिके बजाय भोगकी प्राप्ति सुलभ मानी जाती है किसी अतिप्रिय जीवको ही शिव मुक्तिदान करते हैं. यह असाधारण प्रेमभाजन वे ही बन सकते हैं जो पूर्णतया शिवके प्रति समर्पित होते हैं. अतः शिवकी भक्ति या शरणागतिके साथ जो वर्णाश्रमोचित स्वधर्मकी उपेक्षा नहीं करते उन्हें शिवसे मोक्ष मिलता है.

(४) परतोमोक्षवादी पांचरात्र वैष्णवतन्त्रके अनुसार साधना करनेपर विष्णुद्वारा मुक्ति मिल सकती है.

श्रीमहाप्रभुके अनुसार क्योंकि सर्वात्मक निर्दोषपूर्णगुण ब्रह्म ही महानारायण आदि उपनिषदोंके अनुसार जगत्पालक विष्णुका रूप धारण करता है. विष्णुके रूपमें भगवान् स्वयम् अलौकिक दिव्य भोगोंके उपभोगकी लीला करते हैं. अतः विष्णुसे उनके स्वोपभोग्य भोगके बजाय मोक्षकी प्राप्ति सुलभ मानी जाती है. विष्णु अपने किसी अतिप्रिय भक्तको ही भोगका दान करते हैं. यह असाधारण प्रेमभाजन बन पाना पूर्णतया विष्णुके प्रति समर्पित होनेपर ही सम्भव है. अतः विष्णुकी भक्ति या शरणागति के साथ जो वर्णाश्रमोचित स्वधर्मकी उपेक्षा नहीं करते उन्हें विष्णुसे मुक्ति मिल सकती है.

स्वतोमोक्षके प्रकारमें सांसारिक दुःख तो दूर होते है किन्तु पारलौकिक सुखकी सम्भावना नही है जबकि परतोमोक्षके प्रकारमें वह सम्भव है.

इस तरह ब्रह्मा–विष्णु–शिवकी त्रिपुटीमें शिव और विष्णु भोग–मोक्ष दोनोके दानमें समर्थ होनेपर भी अधिकांशमें शिव भोगके दाता बनते हैं और विष्णु मोक्षके दाता. ब्रह्मा केवल भोगके दाता हैं मोक्षके नहीं. अतः मोक्षदाता देवताके रूपमें ब्रह्माका भजन व्यर्थ है परन्तु मोक्षशास्त्रके उपदेशक गुरूके रूपमें ब्रह्माको भी मोक्षदाता माना जाता है.

यह सारे मोक्षशास्त्रोंके सिद्धान्तोंका संग्रहरूपेण निरूपण है. इसे जाननेसे पुष्टिजीवको पूर्णतया पुष्टिमार्गीय बननेमें अथवा बने रहनेमें सहायता मिलती है स्वसिद्धान्तका निरूपण तो आगे चलकर सिद्धान्तमुक्तावलीमें किया जायेगा. नारायणदास अंबालावालेको श्रीमहाप्रभुने यही सर्वसिद्धान्तसंग्रह पढ़ाया था ताकि उनका चित्त पुष्टिके प्रशस्त पथको छोड़कर कहीं यहां–वहां न भटक जाये. वार्तामें उल्लेख मिलता है कि अपने घर लोटनेके बाद

काम–काजमें व्यापृत हो जानेपर भी इनका चित्त सदा गोकुल और श्री-महाप्रभुकी ओर दोडता रहता था–"भैयाजी श्रीगोकुल श्रीआचार्यजीके दरसनको कब चलोगे ?" तब नारायनदास कहते–'हां, अब चलूंगो ? नेत्रनमें जल भरि लीलारसमें मगन होय जाते. फेरि वह चाकर कहतो (कब श्रीगोकुल चलोगे) फेरि मगन होय जाते."

श्रीमहाप्रभुने इस बालप्रबोधनद्वारा नारायनदासको कितना स्वकीय–कितना पुष्टिमार्गीय बना लिया होगा ! अतएव श्रीमहाप्रभुने 'बीज' रूपसे पुष्टिके रहस्योंको यहां अवतारी कृष्णके सन्दर्भमें न देकर उनके गुणावतार शिव और विष्णु के सन्दर्भमें 'उपक्षिप्त' किया है–"समर्पणेनात्मनो ही तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम्. अतदीयतया चापि केवलश्चेत्समाश्रितः तदाश्रयतदीयत्वबुद्धयै किञ्चित्समाचरेत्. स्वधर्ममनुतिष्ठन्वै भारद्वैगुण्यमन्यथा. इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः" (बालबोध १८–१९)

नारायणदासको स्वरूपसेवाकी आज्ञा न मिली–अतएव स्वरूपसेवाके अनुकल्प श्रीहस्ताक्षरकी सेवाका उल्लेख हमें मिलता है–और न स्वसिद्धान्तका उपदेश ही–अतएव बालबोध द्वारा सर्वसिद्धान्तसंग्रह उपदिष्ट हुआ–फिरभी स्वकीयता–सार–सर्वस्व चिर–उत्कण्ठा और तापभाव का उन्हें वरदान मिला –"भैयाजी! श्रीगोकुल श्रीआचार्यजीके दरसन को कब चलोगे? हां, अब चलूंगो ! नेत्रनमें जलभरि लीलारसमें मगन होय जाते....." बालबोध वस्तुतः श्रीमहाप्रभु, उनके सिद्धान्त और मार्ग की ओर प्रयाण करने की तीव्र उत्कण्ठा जगाता है–'समर्पणेनात्मनो हि तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम्... इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः"

प्रस्तुत संस्करण वि. सं १९८३ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद्गोस्वामि–कुलभूषण–विद्यानिधि–श्रीव्रजरत्न-लालजो महाराजने श्रीचीमनलाल ह. शास्त्रीद्वारा सम्पादित करवा कर अपनी श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत—महासभा (सूरत) द्वारा इसे प्रकाशित कराया था. उस संस्करणके पुनः प्रकाशनपर आदरणीय महाराजश्री तथा श्री-शास्त्रीजी के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते है! इति शम्.

સંશોધન

આ ગ્રન્થની બે ટીકા-શ્રીદેવકીનંદનજીની અને શ્રીપુરુષોત્તમજીની ટીકા-શ્રીગોકુલનાથજી મહારાજ તરફથી મુદ્રિત થઈ હતી. આ મુદ્રિત પ્રતિનો પણ અમે હસ્તલિખિત પ્રતિસહ સંવાદ કરી પ્રેસકોપીમાં ઉપયોગ કર્યો છે. પાઠભેદ જે અત્યાવશ્યક લાગ્યા તે રાખ્યા છે. શ્રીદ્વારકેશ ચરણની ટીકા માટે અમે બહુ આયાસ કર્યો, પરંતુ પ્રભુ ઈચ્છાએ કાલાવધિ પૂર્ણ થતાં **"ગુજરાતી" પ્રેસના માલિક શ્રીયુત નટવરલાલ ઈચ્છારામભાઈ દેશાઈ** તરફથી અમને મળી. તે ઘણી જ શુદ્ધ, પ્રાચીન અને વાચિત છે, તેથી આ એક પ્રતિથી પણ કાર્ય સુંદર અને સરલ થયું. આ ટીકાકાર પ્રાચીન છે. આ શ્રીદ્વારકેશચરણની ટીકાનો અને શ્રીદેવકીનંદનજીની ટીકાનો ઉલ્લેખ પોતાની ટીકામાં શ્રીપુરુષોત્તમજી કરે છે. આવા સામ્પ્રદાયિક ઘણાખરા સુંદર પ્રાચીન ગ્રન્થો શ્રીયુત નટવરલાલભાઈ પાસે છે, અને વિનાસંકોચે ગ્રન્થો છાપવા માટે આપે છે, તે તેમની વિદ્વત્પ્રિયતા સૂચવે છે. એ માટે અમે તેમનો આભાર અત્ર ઉચિત સ્થાને માનીએ છીએ.

શ્રીયમુનાષ્ટકના ઉપર શ્રીદ્વારકેશજીની ટીકા માટે બહુ પ્રયાસ કરતાં કાશીમાંથી ફક્ત અમને પ્રથમ શ્લોકની જ ટીકા મળી છે. શ્રીહરિરાયચરણ અને શ્રીપુરુષોત્તમચરણની ટીકા તો મુદ્રિત થઈ ગઈ છે. પરંતુ શ્રીદ્વારકેશજીની ટીકા મળી જાય, તો આ ષોડશ ગ્રન્થનું કાર્ય અમારા શિર ઉપરનું પૂર્ણ કરી દઈએ. આપણા સમ્પ્રદાયમાં આ ષોડશ ગ્રન્થ ઉપરનું સાહિત્ય અનહદ ઉપયોગિ છે, તે હરકોઈ જાણે છે; પરંતુ શોકની વાત એ છે કે પોરબંદરસ્થ ગો૦ શ્રીજીવનલાલજી મહારાજે મુદ્રણ કરાવેલા સેવાફલાદિ અનેક ગ્રન્થો હજુ શિલિકમાં પડ્યા છે. વષ્ણુવો તરફથી તે ખરીદી જો ઉત્તેજન ન આપવામાં આવે અને તેનો વાચનમાં ઉપયોગ ન કરવામાં આવે ત્યાં સુધી તે મુદ્રિત હો કે લિખિત હો, એ સમાન છે. આજ હેતુથી સભાસદનું વર્ગીકરણ શુદ્ધાદ્વૈત મહાસભાને રાખવું પડયું છે, કે જેથી આ સભાએ પ્રકટ કરેલા વિવેકધૈર્યાશ્રયાદિ ગ્રન્થો સીધા જ સભાસદના ગૃહમાં પધરાવાય. ચતુઃશ્લોકીનો પણ ઉદ્ધાહાર મારે હાથેજ લખાયો હતો.

વિવેકધૈર્યાશ્રય વખતે શુદ્ધાદ્વૈત મહાસભાનું મહાધિવેશન હતું તેથી ત્વરામાં તેનું મુદ્રણ થયું હતું. પરંતુ આ ગ્રન્થ શાંતિથી થએલ છે તેથી પ્રભુકૃપાએ શુદ્ધ મુદ્રણ થયું છે, તથાપિ જીવબલ વિચારી વિદ્વદ્વર્ગ અશુદ્ધિ પરત્વે ક્ષમા અર્પશે.

જ્યેષ્ટ શુકલ ૧૫
સં. ૧૯૮૩

ભવદીય
શાસ્ત્રી ચીમનલાલ

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतः

बालबोधः ।

नत्वा हरिं सदानन्दं सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहम् ।
बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ॥ १ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम् ।
जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ॥ २ ॥

अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः ।
लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास्तथैवेश्वरशिक्षया ॥ ३ ॥

लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदादाद्या यतः स्थिताः ।
धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् ॥ ४ ॥

त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते ।
मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः ॥ ५ ॥

द्विधा द्वे द्वे स्वतस्तत्र सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ ।
त्यागात्यागविभागेन सांख्ये त्यागः प्रकीर्तितः ॥ ६ ॥

अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ ।
स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥ ७ ॥

तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता ।
ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमबाह्यतः ॥ ८ ॥

अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि ।
यमादयस्तु कर्त्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता ॥ ९ ॥

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते ।
ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस्तद्रूपेण सुसेव्यते ॥ १० ॥

ते सर्वार्था न चाऽऽद्येन शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम् ।
अतः[1] शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ ॥ ११ ॥

---

१ "अतः" इति पाठः श्रीपुरुषोत्तमचरणानाम् ।

वस्तुनः[1] स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्त्तकौ ।
ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ ॥ १२ ॥

निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता ।
भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि ॥ १३ ॥

भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः ।
लोकेऽपि यत्प्रभुर्भुङ्क्ते तन्न यच्छति कर्हिचित् ॥ १४ ॥

अतिप्रियाय[2] तदपि दीयते क्वचिदेव हि ।
नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः ॥ १५ ॥

प्रत्येकं साधनश्चैतद् द्वितीयार्थे महाञ्छ्रमः ।
जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा ॥ १६ ॥

श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति ।
मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर्भोगश्च शिवतस्तथा ॥ १७ ॥

समर्पणेनाऽऽत्मनो हि तदीयत्वं भवेद्ध्रुवम् ।
अतदीयतया चाऽपि केवलश्चेत्समाश्रितः ॥ १८ ॥

तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित्समाचरेत्[3] ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यमन्यथा ॥ १९ ॥

इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः ॥ १९½ ॥

इति बालबोधः समाप्तः ।

---

१ 'वस्तुस्थितौ च संहारे कार्ये' "इति क्वचित्पाठः" इत्युक्तं श्रीदेवकीनन्दनचरणैः स्वटीकायाम् ।
वस्तुनः स्थितिसंहारे कार्ये इत्यपिपाठः क्वचिदितिप्रोक्तं श्रीपुरुषोत्तमचरणैः ।

२ अतः प्रियायेति पाठः श्रीद्वारकेश्वराणाम् ।

३ स दाचेरत् इतिपाठः श्रीपुरुषोत्तमचरणानां श्रीदेवकीनन्दनचरणानाञ्च ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरण कमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्य्यचरणप्रणीतः

बालबोधः ।

श्रीदेवकीनन्दनचरणकृतप्रकाशव्याख्योपेतः ।

यच्चमत्कृतिरेवाऽन्तर्निरस्यति तमः स्मृता ।
अलङ्कुर्वन्तु मद्वाचमाचार्यचरणत्विषः ॥ १ ॥
यदाश्रयवतामेव बल्लवीजनवल्लभः ।
प्रसीदति विनोपायैर्विठ्ठलेशं तमाश्रये ॥ २ ॥
पितृपादाम्बुजयुगं भक्त्या नत्वा मुहुस्त्रिधा ।
मतिं स्वामनतिक्रम्य बालबोधो विचार्यते ॥ ३ ॥
भक्तिमार्गे फलं कृष्णस्तदास्वादस्तु दुर्लभः ।
जीवानामत एवाऽन्यमतेषूत्पद्यते रतिः ॥ ४ ॥
तत्प्रेरितेन रुद्रेण मतान्युक्तानि वै कलौ ।
विशेषतः प्रवर्तन्ते स्वातन्त्र्यं न यतो नृणाम् ॥ ५ ॥
तत्तत्फलप्रशंसैव तत्र तत्र निरूप्यते ।
तन्मोहवशतो लोकः परिभ्रमति केवलम् ॥ ६ ॥
अतः कदाऽपि कृष्णस्य भजनं लभते न सः ।
फलाभावाद्दैवसृष्टिर्व्यर्था भवति सर्वथा ॥ ७ ॥
'दैवी सम्पद्विमोक्षाये'त्युक्तिस्तर्हि विरुध्यते ।
अतः करुणया बालबोधमग्निश्चकार हि ॥ ८ ॥
अष्टादशानामत्र श्रीभगवद्वचसामपि ।
पुराणानां स्मृतीनां च प्रामाण्यज्ञापनाय हि ॥ ९ ॥

१ तद्विशेषा इति क.

तावन्तः कथिताः श्लोका आद्येनोपक्रमस्तथा ।
अन्तेऽर्द्धेनोपसंहारस्तेन सार्द्धोनविंशतिः ॥ १० ॥

अथ मतान्तरेषु पुरुषार्थचतुष्टयस्य फलत्वेन कथनात्तदर्थितया जीवानां प्रवृत्तेर्भक्तेरगौरवमसहिष्णवस्तन्मार्गप्रकटनायोक्तचतुष्टयस्याऽपुरुषार्थत्वं समर्थयन्तः किञ्चित्स्वमतं वक्तुमादौ विघ्नाभावाय समङ्गलं तदुद्दिशन्ति नत्वेति ।

नत्वा हरिं सदानन्दं सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहम् ।
बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ॥ १ ॥

हरिं सदानन्दं नत्वा सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहं वदामीति पदसम्बन्धः । हरिपदेन दुःखाभावसम्पादनपाटवोक्त्या समारब्धान्तरायापायः सूचितः । सदानन्दपदेन 'कृषिर्भूवाचकः शब्द' इति निरुक्तेः सुखरूपः श्रीकृष्ण उक्तः । 'तेन दुःखाभावः सुखं चेति पुरुषार्थद्वयं' निष्प्रत्यूहं ततः सिद्ध्यतीति तं नत्वेत्युक्तम् । स्वसिद्धान्तैर्निर्गलितमर्थमिममेवाऽग्रे निर्णेतुमारभन्ते सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहं वदामीति । सर्वानपि सिद्धान्तान्सङ्गृह्य एकीकृत्य वदामीत्यर्थः । यद्वा, सर्वेषामपि तेषां सम्यगिदमित्थतया ग्रहो ज्ञानं येन तादृशं ग्रन्थं तथेत्यर्थः । यद्यपि तत्तच्छास्त्रैरपि तत्तन्मतपरिज्ञानं भवति, तथापि भ्रान्तिसंवलितमेव, तद्वक्तॄणां प्रतारकत्वात् । तत्र च हेतुरग्रे वक्ष्यते— 'तथैवेश्वरशिक्षये'ति । अत्र तु तन्निवृत्तिपूर्वमिति ज्ञाने सम्यक्त्वमुक्तम् । तदपि हेयत्वेन न तूपादेयत्वेनेवि ज्ञेयम्, स्वमार्गविरोधित्वात् । ननु किं तादृशप्रयासेन, प्रयोजनाभावात्, अत आहुर्बालप्रबोधनार्थायेति । बाला हि स्वतः शास्त्रतो वेष्टानिष्टविचाररहिताः केनचित्प्रतारणार्थमिष्टेऽनिष्टत्वेऽनिष्टेऽपीष्टत्व उच्यमाने तत्र भ्रान्तास्तमेवाऽनुवर्तन्ते । पुनः पित्रादिना तद्गुणदोषवर्णने कृते तद्भ्रममपहाय तत्प्रदर्शितं स्वहितवर्त्म गृह्णन्ति । न तु तेषामुभयत्र स्वाभाविकं ज्ञानं प्रयोजकमस्ति । परं वातादिकृतसहजभ्रमरहिताश्चेत्, तादृशानामप्रतीकार्यत्वादिति । तादृशा आसुरत्वादिस्वभावदोषरहिता मोहशास्त्रैः परिभ्रामिता न भक्तिपदवीमनुसरन्ति जीवाः, ते बाला इत्युच्यन्ते । तेषां प्रकर्षेण बोधनं स्वमतज्ञानलक्षणं, तदर्थायेत्यर्थः । पुनरतथात्वाय बोधने प्रकर्ष उक्तः । पित्रादिवत्स्वस्य तत्प्रबोधनमावश्यकमिति ज्ञापयितुमपि तेषां बालत्वमुक्तम् । अन्यथा दैवसर्गस्य फलराहित्येन वैयर्थ्यं स्यात् । उक्तं च " दैवी सृष्टिर्व्यर्था च भूयान्निजफलरहिते"ति । ननु किमेतदुच्यमानं प्रमाणसिद्धमुत स्वबुद्धिकल्पितमित्यत आहुः सुविनिश्चितमिति । सुष्ठु वेदादिप्रमाणैर्विशेषेण स्वस्य वागधिपतित्वात्स्वबुद्ध्या च निश्चितं निर्णीतमित्यर्थः ॥ १ ॥

१ निष्कालितमिति क.

प्रथमं मतान्तरीयपुरुषार्थचतुष्टयस्याऽनुपादेयत्वकथनाय वैदिकतच्चतुष्टयभिन्नत्वमुपपत्त्या निर्द्धारयन्ति धर्मार्थकाममोक्षाख्या इति ।

धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम् ।
जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ॥ २ ॥

एते चत्वारो मनीषिणां विदुषामर्थाः पुरुषार्था इत्यर्थः । वस्तुतस्तु पुरुषार्थत्वेन भक्तिमार्गीया एव धर्मादयश्चत्वारो गण्यन्ते, न त्वितरे । 'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी'त्यादिवचनैर्भक्तेरेव सर्वतोऽधिकत्वश्रवणात् । अन्येषां धर्मादिसञ्ज्ञामात्रमिति ज्ञापनायाऽऽख्यापदम्, अपुरुषार्थताज्ञापनाय पुरुषपदप्रयोगाभावश्चोक्तः । मनीषिणामित्यनेन सर्वानधिकारित्वाच्च तथेति ज्ञापितम् । भक्तौ तु "देवोऽसुरो मनुष्यो वे"ति सामान्यनिर्देशादुक्तदूषणाभावः स्फुटः । किञ्च । कालादीनामङ्गत्वेन तदशुद्ध्या धर्मादयः पुरुषार्था इति तु वार्त्तामात्रम्, स्वरूपासिद्धेः । भक्तेस्तु भगवदनुग्रहैकजन्यत्वेन तत्स्वरूपसिद्धौ न तेषामङ्गतेति न तदशुद्धेर्बाधकत्वम्, प्रत्युत तेषामनुगुणत्वमेव । तदुक्तम्, 'कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुण' इति । 'कलिं सभाजयन्त्यार्य्या गुणज्ञाः सारभागिन' इति च । तेन भक्तिरेव परमपुरुषार्थ इति निरूपितम् । ननु वेदानामीश्वरवाक्यत्वेन तत्प्रतिपादितानां तेषां कथमतथात्वमिति चेत्, तत्राऽऽहुः जीवेश्वरविचारेणेति । ते धर्मादयो जीवविचारेणेश्वरविचारेण च द्विधा द्विप्रकारका विचारिता भिन्ना इत्यर्थः । तेन जीवविचारितानामेवाऽपुरुषार्थता न त्वीश्वरविचारितानामिति ध्वन्यते । ईश्वरोक्तानां तु पुरुषार्थता परं मर्यादायामिति ज्ञेयम् । पुष्टौ तेषामप्यनपेक्ष्यत्वात् । हिशब्दोऽत्र युक्तार्थतां सूचयति । न हि पूर्णज्ञानवद्विचारितस्याऽल्पज्ञानवद्विचारितस्य चैक्यं भवितुमर्हति, भिन्नविषयत्वात् ॥ २ ॥

तदग्रे स्पष्टीकुर्वन्त्यलौकिकास्त्विति ।

अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः ।
लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास्तथैवेश्वरशिक्षया ॥ ३ ॥

वेदोक्ता ईश्वरविचारिता अलौकिका न लोकविषया इत्यर्थः । अन्येषामलौकिकत्वव्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः । ननु वेदे यज्ञात्मको धर्मः' तस्य च "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते"त्यादिभिः स्वर्गसाधकत्वमुच्यते । स च स्वर्गो लोक एवेति कथमलौकिकत्वमिति चेत्, सत्यम् न हि वेदे स्वर्गशब्देन लोकं उच्यते । "यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदमि"ति

---

१ उक्तमिति क. २ लौकिक इति क.

लक्षणाप्रवेशात् । किन्त्वात्मसुखमेव तादृशम्, तच्चाऽलौकिकमिति नोक्तमनुपपन्नम् । एतन्निबन्धे विवृतमिति विस्तरेण ततोऽवगन्तव्यम् । नन्वेवमपि फलस्याऽलौकिकत्वमायाति । न तु स्वरूपतो यागादेस्तत्साधनानां वा तथात्वं वक्तुं युक्तम्, स्वकृतिसाध्यत्वादित्यत आहुः साध्यसाधनसंयुता इति । साध्या यागादयस्तत्साधनानि च तैः सहिता एवाऽलौकिका इत्यर्थः । "यज्ञो वै विष्णुरिति" श्रुतेः ससाधनस्य तस्य भगवद्रूपत्वात्तथोच्यत इति भावः । तदुक्तं निबन्धेऽपि " तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि स्रुगादि यदि"ति । अत एवाऽर्थस्याऽपि धर्मसाधनत्वेनाऽलौकिकत्वमिति ज्ञेयम् । तदसाधकस्य नाशहेतुत्वादपुरुषार्थतैव । अर्थस्य धर्मसाधनत्वं निबन्धे निरूपितम्, " धर्मो ह्यर्थेन साधित " इति । तेन धर्मेणाऽर्थोऽर्थेन कामः कामेन मोक्ष इति क्रमोऽत्र नोररीकृतः । कामस्य तु दृष्टान्तत्वेन वैराग्यजनकत्वेन च मोक्षसाधकत्वात्तथात्वमिति विवेकः । ननु यथा धर्मसाधनत्वेनाऽर्थस्य मोक्षसाधनत्वेन च कामस्य पुरुषार्थता, तथाऽऽत्मसुखसाधनत्वेन धर्मस्य तथात्वं न स्वतः । अतः को विशेषस्त्रयाणामिति चेद्, उच्यते । वेदे हि काण्डद्वयम् । तत्र पूर्वकाण्डे यज्ञात्मको धर्मः साक्षादात्मसुखसाधनत्वेन पुरुषार्थ इति स्तूयते । तथोत्तरकाण्डे साक्षान्मोक्षसाधनत्वेन ज्ञानमपि । तथा परम्परयैकत्र साधनमर्थोऽपरत्र कामः । एवं साक्षात्परम्पराभेदकृतो विशेषो धर्मस्योभाभ्याम् । कामस्य विषयसुखात्मकत्वमाश्रित्य तथा व्याख्यातम् । वस्तुतः पुरुषार्थद्वयमात्मसुखं मोक्षश्चेति निर्णयः । तथा च तत्त्वदीपे, "दुःखाभावः सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं मतमि"ति । अतो मोक्षकामयोः साक्षात्पुरुषार्थता । तत्साधनत्वेन धर्मस्य । धर्मसाधनत्वेनाऽर्थस्य च परम्परया पुरुषार्थतेति सिद्धम् । अत्र कामशब्देनाऽऽत्मसुखमुच्यते । विषयसम्बन्धिनः साक्षात्पुरुषार्थतानुपपत्तेः । जीवविचारितानाहुर्लौकिका इति । ऋषिभिः प्रोक्ता लौकिका इत्यर्थः, जीवबुद्धिविषयत्वात् । ननु तेऽपि वेदार्थविदः कथमीश्वरविचारादन्यथा कथयन्ति । किञ्च । तदुक्तस्याऽपि वेद एव मूलं भवति । अन्यथाऽप्रामाणिकत्वप्रसङ्गादित्याशङ्क्याऽऽहुस्तथैवेश्वरशिक्षयेति । यथा ते कथयन्ति तथैवेश्वरस्य नियामकस्य प्रेरणलक्षणा शिक्षा, तया तथेत्यर्थः । एवकारेण प्रकारान्तरेण प्रेरणं कथनं वा व्यावर्त्यते । शिक्षाप्रयोजनं तु "त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारये"त्यत्र निरूपितम् । वस्तुतो वेदतात्पर्यपरिचयो ज्ञानवतामपि दुर्लभः । "तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरय" इति वचनात् । अतस्तेषामनीश्वरविचारितत्वादनङ्गीकारः सूचितः ॥ ३ ॥

---

१ श्रूयत इति क. ग.

एवमीश्वरजीवविचारभेदेन धर्मादिचतुर्णां द्वैविध्यमुक्त्वा विस्तरेण लौकिकान् वक्तुमुपक्रमन्ते लौकिकानिति।

लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदाद्या यतः स्थिताः।
धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात्॥ ४॥
त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते।
मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः॥ ५॥
द्विधा द्वे द्वे स्वतस्तत्र सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ।
त्यागात्यागविभागेन सांख्ये त्यागः प्रकीर्तितः॥ ६॥

लौकिकान् प्रकर्षेण वक्ष्यामीत्यर्थः। तुशब्दस्त्वलौकिककथनापेक्षां व्यावर्त्तयति। तत्रोपपत्तिमाहुर्वेदाद्या इति। यतो यस्माद्धेतोराद्या ईश्वरविचारितास्ते वेदाद्वेदस्य विद्यमानत्वात्तत एव स्थिताः प्रवर्त्तमानाः सन्त्यतस्तान्विहाय लौकिकाः कथ्यन्त इति भावः। किञ्च, स्थिता इति पदेन गतिनिवृत्तिः सूच्यते। धात्वर्थस्य तथात्वात्। तथाचाऽधुना प्रवृत्त्यभावेन तत्कथनप्रयोजनाभाव उक्तः। अतो लौकिकानामेव वक्तव्यत्वात्तन्मध्ये त्रिवर्गनिर्णयस्याऽनावश्यकत्वमाहुर्धर्मशास्त्राणीति। धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि। नीतिः नीतिप्रतिपादकमर्थशास्त्रम्। कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि। क्रमात्प्रत्येकं त्रिवर्गस्य धर्मादित्रितयस्य साधकानि सन्ति। चकारद्वयेन तत्तन्निर्णयग्रन्था अपि सङ्गृह्यन्ते। इति हेतोस्तन्निर्णयोऽत्र नोच्यते प्रयोजनाभावादिति भावः। मोक्षनिर्णयस्याऽऽवश्यकत्वायाऽऽहुर्मोक्षे चत्वारि शास्त्राणीति। लौकिके जीवविचारिते मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि साधकानि सन्तीत्यर्थः। यद्यपि धर्मादिशास्त्राणामपि बहुत्वं, तथापि देशाद्याचारभेदेन विरोधाभावात्तत्समाहितिर्भवति। मोक्षस्तु पुरुषार्थरूप इति तस्य चतुर्द्धा कथने भ्रमो भवति, स न युक्त इति तन्निरासाय निर्णीयत इति भावः। तस्य चातुर्विध्यव्यवस्थामाहुः परतः स्वत इति। परतः स्वतश्चेति द्विधा द्विप्रकारके द्वे द्वे शास्त्रे स्त इत्यर्थः। अत्राऽयमर्थः। शास्त्रद्वयं स्वतो मोक्षसाधकम्। शास्त्रद्वयं परतश्चेति। यत्र शास्त्रोक्तरीत्या साधनाचरणे कृते जीवः कृतार्थो भवति तत्स्वतःशास्त्रमुच्यते। यत्र तदुक्तरीत्या साधनेऽकृते[3]ऽपि कस्यचित्प्रसादात्कृतार्थो भवति तत्परतः शास्त्रमुच्यते। उभयोर्द्वैविध्याच्चत्वारि तानि भवन्ति। यद्वा, परतः स्वतश्चेति द्विप्रकारके लौकिके मोक्षे द्वे द्वे ते स्त इति। अस्मिन्नर्थेऽयं भावः। लौकिको मोक्षो हि स्वरूपतो द्विविधः। स्वाश्रयः पराश्रयश्चेति। यत्राऽवि-

१ अत इत्यारभ्य मुक्तो भवतीति भाव इत्यन्तो निबन्ध एव नास्ति सार्धद्वयस्य, कपुस्तके। २ तर्हीति ख.
३ कृतेऽपीत्यवग्रहशून्यः सर्वत्रोपलब्धः पाठः। भातित्ववग्रहोऽपीति तथेह निवेशः।

विद्यानिवृत्तौ सत्यामद्वैतं ब्रह्म भासते, तत्र जीवब्रह्मणोरभेदात्प्रतिबिम्बन्यायेन जीवः स्वाश्रये ब्रह्मणि लीयते । स स्वाश्रयो मोक्ष इत्युच्यते । यत्र पुनरविद्यानिवृत्तौ शुद्धो जीवः परस्मिन्ब्रह्मणि लीयते तत्राविद्यानिवृत्तावपि[1] भेदस्वीकारात्पराश्रय इत्युच्यते । तयोरपि प्रतिपादके द्वे द्वे ते स्त इति मोक्षे चातुर्विध्यम् । तत्र प्रथमं स्वतस्ते आहुः स्वतस्तत्रेति । तत्र तेषां मध्ये स्वतः शास्त्रभूतौ सांख्ययोगौ प्रकीर्त्तितौ प्रकर्षेण कथितावित्यर्थः । यद्यपि "यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यत" इति वाक्यादुभयोरेकमेव फलमिति न भेदो वक्तुमुचितस्तथापि जीवविचारेणोच्यमानत्वात्तदनुसारेणोभयोर्भेदं व्यवस्थापयन्ति त्यागात्यागविभागेनेति । साङ्ख्ये त्यागोऽपरत्राऽत्याग इति विभागेन भेद इत्यर्थः । तदेव स्पष्टयन्ति-साङ्ख्ये त्याग इति । साङ्ख्ये मुक्तिसाधनत्वेन त्यागः प्रकीर्तित इत्यर्थः । साङ्ख्ये हि नित्यानित्यवस्तुविवेकः प्रतिपाद्यते । तस्मिन्सम्पन्ने वैराग्योत्पत्तौ ततः सर्वपरित्यागेन मुक्तो भवतीति भावः ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

ननु सङ्घातस्य विद्यमानत्वात्कथं त्यागमात्रेण मुक्तिरित्याशङ्कायां तन्मुक्तिप्रकारमाहुरहन्ताममतानाश इति ।

> **अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ ।**
> **स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥ ७ ॥**
>
> **तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता ।**
> **ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमबाह्यतः ॥ ८ ॥**

अहन्ताममतात्मकः संसारः, तत्राऽविद्यया जीवो बद्धस्तिष्ठति । साङ्ख्ये[2] चाऽऽत्मानात्मविवेकेनाऽविद्यानिवृत्तिर्भवति । तस्यां निवृत्तायां तत्कार्यरूपः संसारोऽपि नश्यति । ततः सङ्घाताद्भिन्नतया आत्मज्ञानमुत्पद्यते । एवमपि सति यावदहङ्कारनिवृत्तिर्न भवति तावदपि न सर्वात्मना मुक्तिरित्यभिप्रायेणाऽऽहुः सर्वथा निरहङ्कृताविति । सर्वथा सर्वप्रकारेण "नैव किञ्चित्करोमी"त्यहङ्काराभावे सतीत्यर्थः । ततो मुक्तिस्वरूपमाहुः[3] स्वरूपस्थ इति । यदैव जीवः सर्वं परित्यज्य स्वरूपस्थः स्वात्मज्ञानैकनिष्ठो भवति तदा तदवस्थापन्न एव स कृतार्थो मुक्त इति निगद्यते कथ्यत इत्यर्थः । वस्तुतस्तु ब्रह्मलाभस्य मोक्षपदार्थत्वेन तदभावान्न मुक्त इति भावः, पुनर्जन्मावश्यम्भावाच्च[4] । तदुक्तं दशमस्कन्धे, "आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं

---

१ तत्र निवृत्तावपीति ग. २ सांख्येनाऽऽत्मनात्मेत्यादि क. ३ मुक्तस्वरूपमिति ख. ४ पुनर्जन्मावश्यम्भावित्वाच्चेति ग.

ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रय"इति। तथा च तत्त्वदीपविवृतौ, "जन्मान्तरे ज्ञानी ज्ञानी सन्नुत्पद्यत" इति ॥ ७॥

नन्वेवं सति जीवविचारितस्य साङ्ख्यस्य कथं प्रामाण्यमित्यपेक्षायामाहुस्तदर्थमिति। तदर्थमुक्तरीत्या मोक्षार्थं काचित्प्रक्रिया पुराणेऽपि निरूपिता कथितेत्यर्थः। तेन पुराणमूलकत्वात्प्रामाण्यं तस्येति भावः। ननु "पुराणं हृदयं स्मृतमि"ति वाक्यात्तन्मूलकस्य कथं जीवविचारितत्वमित्यत आहुः, ऋषिभिरिति। ऋषिभिः सा प्रक्रिया बहुधा बहुभिः प्रकारैर्भिन्ना प्रोक्ता स्वविचारादतस्तथेत्यभिप्रायः। तत्र हेतुः पूर्वमुपपादितः, "तथैवेश्वराशिक्षये"ति। तर्हि साधनप्रकारभेदात्फलं भिन्नं भविष्यतीत्याशङ्क्य तथा नेत्याहुः फलमेकमिति। पुराणोक्तस्य साङ्ख्यस्य फलद्वयम्। प्रथममात्मदर्शनमेकम्। ततो ज्ञानद्वारा मोक्षो द्वितीयम्। जीवविचारितस्य तस्याऽऽत्मदर्शनमेकमेव फलं न द्वितीयमित्यर्थः। तत्रापि विशेषमाहुरबाह्यत इति। बाह्यो बहिर्मुखो निरीश्वरो विकर्मपरिपोषितश्च साङ्ख्यः। तदतिरिक्तात्पुराणमूलकात्साङ्ख्यादुक्तं फलं, न तु बाह्यादिति भावः। प्रत्युत तादृशान्नरकः, वेदविरोधित्वात्। तदुक्तं तत्त्वदीपे, "योगसाङ्ख्ये धर्महीने विमार्गपरिपोषिते, नरकायैव भवत" इति ॥ ८॥

अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि।
यमादयस्तु कर्त्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता ॥ ९॥

एवं स्वतःशास्त्रमेकमुक्त्वा द्वितीयमाहुरत्यागे योगमार्ग इति। त्यागाभावे योगमार्गो योगप्रतिपादकं शास्त्रं मोक्षप्रतिपादकमित्यर्थः। ननु त्यागव्यतिरेकेण कथं योगः सिद्ध्येदित्याशङ्क्याऽऽहुरत्यागोऽपीति। न हि सर्वात्मना त्यागो निषिध्यते। मनसा तु सर्वं त्यक्तव्यमेव। अन्यथा योगो न सिद्ध्येदिति। मनसा सर्वपरित्यागे सम्पन्ने बहिस्त्यागो नाऽपेक्षित इत्येवकारेण तद्व्यवच्छेद उक्तः। युक्तोऽयमर्थ इति हिशब्द आह। ननु मनसश्चञ्चलत्वाद्बहिस्त्यागाभावे कथं तन्निरोधो भवतीत्यत आहुर्यमादयस्तु कर्त्तव्या इति। यमा द्वादशविधाः। तदुक्तमेकादशेस्कन्धे "अहिंसे"त्यारभ्य "द्वादश स्मृता" इत्यनेन। आदिपदेन तत्रोक्ताः शमदमादयो ग्राह्याः। तेषु कृतेषु मनः स्थिरीभवतीति भावः। तदुक्तं श्रीकपिलदेवेन—"अत एव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि। भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम्। यमादिभिर्योगपथैरि"त्यादि। भक्त्या भगवदतिरिक्तविषयविरक्त्या च

---

१ त्याग इति ग.

भक्तिमार्गे तद्वशीकरणमुक्त्वा यमादिभिर्योगपथैरिति योगमार्गे तैरेव वशीकरणं भवतीत्युक्तम् । अत एवाऽवश्यकर्त्तव्यत्वाय योगपथैरिति विशेषणम् । तुशब्देनाऽकरणपक्षो व्यावर्त्यते । प्रकारान्तरेण तदसिद्धेः । ततः किमित्यत आहुः सिद्धे योगे कृतार्थतेति । योगसिद्धौ कृतार्थो भवतीत्यर्थः । कथमिति चेद्, एवम् । यावज्जीवं योगाभ्यासे कृते स्वात्मज्ञानोदयो भवति । "अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनमि"ति वाक्यात् । ततो योगबलेनैव देहापगमे अविद्यातो विमुच्यते । न त्वितोऽधिकं फलमित्यर्थः । अयमेव केवलयोगसाध्यो मोक्षः । तथा तत्त्वदीपेऽपि, "केवलेनाऽपि योगेन दग्धकर्ममलाशयः । योगवीर्येण जितदृक् लिङ्गं भित्त्वा तथा भवेदि"ति । अत्राऽपि ब्रह्मलाभाभावान्न कृतार्थतेति भावः ॥ ९ ॥

एवं स्वतः शास्त्रद्वयमुक्त्वा परतः शास्त्रद्वयमाहुः पराश्रयेणेति ।

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते ।
ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस्तद्रूपेण सुसेव्यते ॥ १० ॥

परशब्देन विष्णुशिवावुच्येते । तयोराश्रयेण तद्भजनेन मोक्षो द्विधा तत्तच्छास्त्रभेदात् द्विप्रकारको भवति । सोऽप्यत्र निरूप्यते कथ्यत इत्यर्थः । तुशब्दः स्वाश्रयपक्षव्यावर्त्तकः । स्वाश्रयापेक्षया पराश्रयस्याऽऽधिक्यं भक्तिमार्गे भविष्यतीति तदभावायाऽपिशब्देनाऽनादरः सूचितः । ननु ब्रह्मणा किमपराद्धम् । गुणावतारत्वेन त्रयाणामविशेषात्ततोऽपि कथं न मुक्तिरित्यत आहुर्ब्रह्मेति । ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातः प्राप्त इत्यर्थः । यथा ब्राह्मणो निरन्तरं स्ववर्णाश्रमादिविहितं कर्म कुर्वन् स्वार्थमेव सम्पादयति, न तद्विरुद्धमन्यार्थमपि । तथा ब्रह्माऽपि भगवदाज्ञप्तं सृष्टिलक्षणं कर्म करोति । स चेत्पुरुषार्थान्प्रयच्छेत्सर्वमुक्तिरेव स्यात् । तथा सति सृष्टिरुच्छिद्येत । अतः समर्थोऽपि न ददातीति भावः । किञ्च । तद्रूपेण सृष्टिकर्त्तृरूपेण सुसेव्यते । परं प्रजाकामैरेव न त्वन्यैरिति विशेषः । "प्रजाकामः प्रजापतीनि"ति वाक्यात् ॥ १० ॥

अत आहुस्ते सर्वार्था न चाऽऽद्येनेति ।

ते सर्वार्था न चाऽऽद्येन शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम् ।
अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ ॥ ११ ॥
वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्त्तकौ ।
ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ ॥ १२ ॥
निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता ।
भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि ॥ १३ ॥

भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः।
लोकेऽपि यत्प्रभुर्भुङ्क्ते तन्नं यच्छति कर्हिचित्॥ १४॥

आद्येन ब्रह्मणा चत्वारोऽपि ते न भवन्तीत्यर्थः। चकारेण क्वचिदर्थकामौ ततो भवतोऽपि, हिरण्यकशिपुप्रभृतीनामिव। परं न तयोः पुरुषार्थता, नाशहेतुत्वादिति ज्ञापितम्। मोक्षस्तु नैवेति विवेकः। ननु ब्रह्मप्रतिपादितवैखानसमतानुसारेण विष्णुभजनान्मोक्षश्चेत्कथं नैवेत्युच्यत इत्यत आहुः **शास्त्रं किञ्चिदुदीरितमिति**। न हि शास्त्रप्रवर्त्तकत्वेन मोक्षस्ततो वक्तुं शक्यः। तथा सत्यतिप्रसङ्गः स्यात्। एवमाद्यस्य पुरुषार्थदत्वं निषिध्येतरयोस्तत्प्रदत्वमाहुरत इति। यतो हेतोराद्यस्याऽतत्प्रदत्वमतो हेतोः **शिवश्च विष्णुश्च जगतः सृष्टेः हितकारकौ** पुरुषार्थप्रदावित्यर्थः। यद्यप्यनयोरपि स्वस्वकार्यपरता, तथाऽपि विष्णोः पालनं कार्यमतः "अधिकं तत्राऽनुप्रविष्टं न तु तद्धानिरि'ति न्यायेन मोक्षदाने न काऽपि क्षतिः। शिवस्य तु कार्यं संहारः। तदविरोधात्त्रिवर्गदाने न काऽपि क्षतिः। मोक्षदाने तु नोपसंहारः कर्त्तुं शक्य इति कार्यविरोधात्क्षतिः। अतस्तदग्रे निराकरिष्यन्ति 'भोगः शिवेने'त्यादिना॥ ११॥

तयोर्विशेषकार्यमप्याहुर्वस्तुन इति। वस्तुमात्रस्य स्थितिः संहारश्चोभौ तयोः कार्यौ कर्त्तव्यौ भवत इत्यर्थः। 'वस्तुस्थितौ च संहारे कार्ये' इति क्वचित्पाठः। तदा वस्तुस्थितिलक्षणे संहारलक्षणे च कार्ये तौ नियामकाविति योजनीयम्। किञ्च। स्वस्वगुणाधिकारकशास्त्रप्रवर्त्तकौ च। ननु तच्छास्त्रेषु तयोः सर्वात्मकत्वकथनात्कथमेकैककार्यकर्तृत्वमिति चेत्तत्राऽऽहुर्ब्रह्मैवेति। यस्माद्धेतोर्ब्रह्मैव तादृशं तत्तत्कार्यार्थं तत्तद्रूपेण प्रकटं तत्तत्सञ्ज्ञया भिन्नमिव भाति। न तु वस्तुतस्तथा। अतस्तत्र तत्र **सर्वात्मकतया** कथितावित्यर्थः। उक्तहेतोरेव तत्र तत्र तयोर्निर्दोषपूर्णगुणता च कृता प्रतिपादितेत्यर्थः। वस्तुतो निर्दोषपूर्णगुणत्वं सर्वात्मकत्वं च परब्रह्मणः श्रीकृष्णस्यैवेति दिक्। तथा चोक्तं प्रथमस्कन्धे, 'परः पुरुष एक इहाऽस्य धत्ते स्थित्यादये हरिविरञ्चिहरेति संज्ञा' इति। दशमेऽपि, 'त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये' इति। अत एवोभयोः स्वस्वगुणानुगुणं फलदातृत्वमाहुर्**भोगमोक्षफले** इति। यद्यपि भगवद्गुणावतारत्वेन द्वावपि शिवविष्णू भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ समर्थौ, तथापि तद्गुणविचारेण **शिवेन भोगः** सिद्ध्यति **विष्णुना मोक्ष इति निश्चयो** युक्त इत्यर्थः। तत्राऽपि न तयोः कर्तृत्वं, किन्तु करणतैवेति तृतीयया बोध्यते। कर्तृत्वं सर्वत्र भगवत एवेति स्वसिद्धान्तः। उक्तं च मुचुकुन्दं प्रति

१ उच्यते तत आहुरिति क. २ निर्दोषपूर्णगुणवत्त्वमिति क. ३ परब्रह्मत्वमिति ग.

देवैः, 'एक एवेश्वरस्तस्ये'ति । 'श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युरि'त्यत्र श्रेयांसीति बहुवचनात्सात्त्विकान्येव तान्युच्यन्ते । मोक्षस्य बहुत्वानुपपत्तेः । तथा च यत्र विष्णोः सकाशान्मोक्ष उच्यते तत्र विष्णुपदं पुरुषोत्तमपरं क्वचिज्ज्ञेयम् । यदि तच्छास्त्ररीत्या गुणावतारपरं तदुच्यते तदा मोक्षपदार्थस्तत्रैव लयो वाच्यः, 'देवान् देवयजो यान्ती'ति भगवद्वाक्यात् । तथा निबन्धेऽपि 'आदिमूर्त्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यया । निर्गुणा मुक्तिरस्माद्धि सगुणा साऽन्यसेवये'ति । ननूभयोः समत्वेनाऽविशेषात्कथं नोभाभ्यां मुक्तिरिति चेद्, उच्यते । 'ज्ञानान्मोक्ष' इति सर्वशास्त्रसिद्धम् । तथा च 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानमि'ति वाक्यात्तद्गुणाधिष्ठात्रा स सुलभ इत्युच्यते । भोगस्य तत्प्रतिबन्धकत्वाददानमपि । तमसो ज्ञानप्रतिबन्धकत्वात्तद्गुणाधिष्ठात्रा स दुर्लभ इत्युच्यते । भोगस्तन्मूलक एवेति सुलभत्वं युक्तमेव । ननु तत्तच्छास्त्रेषु स सुलभ एवेति चेद्, ओमिति[2] ब्रूमः । "शक्तौ द्वावपी"ति पूर्वमुपपादितं च । न तावताऽस्माकं काऽपि क्षतिः, उभयोरस्वीकारात् । एवं जीवविचारेण लौकिको मोक्षश्चतुर्द्धा प्रतिपादितः । तस्याऽनीश्वरविचारितत्वादस्वीकारोऽप्यर्थादुक्तः । यद्यपि भगवदीयानां मोक्षाभिलाषराहित्यादेतदुक्तं नोपयुज्यते । तथापि "पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय" इति न्यायेन यदि कस्याऽपि तत्रोपादेयबुद्धिः स्यात्प्रमाणसिद्धत्वात्साऽपि मा भूदित्याशयेन जीवभ्रान्तिकल्पितास्ते चत्वारोऽपीत्युक्तम् । अत[3] एतद्द्रष्टारस्तत्र न प्रपत्स्यन्त इति पर्यवसितोऽर्थः । ननु भक्तिमार्गे मोक्षस्याऽनीप्सितत्वेन न तद्दातुर्विष्णोर्भजनापेक्षा । किन्तु विषयाणां भगवत्सेवोपयोगित्वेन तदभावे तद्दातुः शिवस्य तदपेक्षाऽस्त्विति चेत्, तत्राऽऽहुर्लोकेऽपीति । प्रभुः सेवकानां पतिः श्रीकृष्णो यद्भक्तसम्बन्धि वस्तु भुङ्क्ते स्वयमभ्यवहरति, तद्वस्तु कर्हिचित्कदाऽपि शिवो न यच्छति न तदातीत्यर्थः । तथा सति भगवतो भक्तकामनापूरकत्वं "सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसे"ति वाक्याद्भक्तेर्वा कल्पतरुत्वं भज्येत । अतः सर्वथेतरापेक्षा भक्तिमतां नोचितेति भावः । अत एव नैरपेक्ष्यं भक्तेरङ्गमिति भगवानप्याह । "तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेदि"ति । किञ्च, "यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिगि"ति । वचनाद्यत्र स्वार्थे भगवदपेक्षाऽपि दोषाय तत्राऽन्यापेक्षायास्तथात्वे किं वाच्यमिति । तस्मात्स्वीयानां सर्वं स्वयमेव हरिः सम्पादयतीति सिद्धान्तरहस्यम् । "अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति[4] केष्वपि निश्चय" इति वचनाच्च ॥१२॥१३॥१४॥

---

१ तदुच्येतेति ख. ग. २ अत्र ब्रूम इति क. ३ यत इति क. ४ अनिर्वाच्यादिति ख. ग.

किञ्च । भगवदीयातिरिक्तस्याऽपि विषयसम्पत्तिर्न तेन सम्पाद्यते । येन भक्तानामपि तथोच्येत । किन्तु कस्यचिदेवेत्याहुरतिप्रियायेति ।

अतिप्रियाय तदपि दीयते क्वचिदेव हि ।
नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः ॥ १९ ॥
प्रत्येकं साधनञ्चैतद् द्वितीयार्थे महाञ्छ्रमः ।

तेन यद्दीयते तदतिप्रियाय स्वस्याऽत्यन्तभक्ताय न तु यस्मै कस्मैचिदित्यर्थः । तादृशेनाऽप्यपराद्धं चेत्कुप्यत्येव न तु क्षमते कदाचिदित्याशयेन तत्रापि नियमो नेत्याहुः, क्वचिदेव, न तु सर्वत्र । हि युक्तोऽयमर्थः । "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इति वाक्यात् । यथा नियतं फलं भक्तेभ्यो भगवान्प्रयच्छति न तथाऽन्यो दातुं शक्नुयात् । अनीश्वरत्वादिति । अत एव " अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परमि"ति सार्वकामिकं भगवद्भजनमेवोक्तम् । ननु शिवस्याऽर्थदातृत्वं नियतमनियतं वा भवतु, ततोऽत्र किमागतमित्यत आहुः—नियतार्थप्रदानेनेति । नियतं चेदर्थप्रदानं तस्योच्येत तदा भगवदीयानामप्यर्थस्य तदीयत्वं तत्सम्पादितत्वं स्यात् । बहिर्वैलक्षण्याप्रतीतेः । नन्वर्थस्य तथात्वे को दोष इति चेत्तत्राऽऽहुः—तदाश्रय इति । तस्यैवाऽर्थदातृत्वनिश्चये भगवदीयानां तदपेक्षायां तस्यैवाऽऽश्रयो भवेदित्यर्थः । न चैतद्युक्तम्, निषेधश्रवणात् । " सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रजे"ति । " मदन्यत्ते न जानन्ति नाऽहं तेभ्यो मनागपि " इति च । तथा च भगवदीयातिरिक्तस्य मोक्षापेक्षायां विष्णुभजनं, भोगापेक्षायां शिवभजनमिति व्यवस्थापितम् ॥ १९ ॥

न तूभयापेक्षायामेकेनाऽपि तत्सिद्ध्यतीत्याहुः प्रत्येकं साधनं चैतदिति । एतद्विष्णुभजनं शिवभजनं च प्रत्येकमेकं मोक्षसाधनमपरं भोगसाधनम् । न त्वेकमुभयसाधनमित्यर्थः । तेनोभयाकाङ्क्षिभिर्भगवानेवाऽऽश्रीयतामिति ज्ञापितम् । ननु भक्तिमार्गे " स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन " इति वाक्यादुभयोरनपेक्षितत्वेन किं तदाश्रयेणेत्यत आहुर्द्वितीयार्थ इति । एको लौकिको मोक्षश्चतुर्द्धा पूर्वमुक्तो, द्वितीयस्त्वलौकिको भक्तिमार्गीयः । तदर्थं यः श्रमः तन्मार्गीयसाधनाचरणलक्षणः स महान्, पूर्वोक्तापेक्षया साधनतः फलतः स्वरूपतश्चाऽप्युत्कृष्ट इत्यर्थः । इदमत्राऽऽकूतम् । विष्णोः सात्त्विकत्वात्तत्र लयः सात्विको मोक्षः । यत्र फलस्य सदोषत्वं तत्र साधनं सुतरां तादृशमेव । भक्तिमार्गे तु निर्दोषपूर्णगुणविग्रहः श्रीकृष्णः

---

१ भगवदीयातिरिक्तस्याऽपि जीवमात्रस्येति ख. ग. २ पूर्वोक्तमोक्षसाधनतः इति क.

फलम् । साधनं च तन्निष्ठं निरुपधि प्रेम । तच्च, "मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतमि"ति वाक्यात्तादृशमेव ।

एतच्च फलदशायामेव भवतीति प्रथमाधिकारे जीवानां सहजदुष्टत्वं तन्निवृत्ति-प्रकारं चाऽऽहुर्जीवः स्वभावतो दुष्टा इति ।

जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा ॥ १६ ॥
श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति ।
मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर्भोगश्च शिवतस्तथा ॥ १७ ॥
समर्पणेनाऽऽत्मनो हि तदीयत्वं भवेद्ध्रुवम् ।

स्वभावत एव दुष्टाः । न तु स्वरूपतः । भगवदंशत्वादित्यर्थः । "ममैवांऽशो जीवलोक" इति भगवद्वचनात् । "अंशो नानाव्यपदेशादि"ति वेदान्तसूत्राच्च । अथवा । ननु लौकिकमोक्षस्य जीवविचारितत्वाद-नङ्गीकरणं युक्तमेव । परं वेदोक्तस्य तस्येश्वरविचारितत्वादङ्गीकार उचित इत्यत आहुर्द्वितीयार्थ इति । द्वितीयो वैदिको मोक्षस्तदर्थे श्रम आयासो महान-धिक इत्यर्थः । तेनाऽतिकष्टसाध्यत्वात्किं तत्कथनेनेति भावः । तेन लौकिकवैदिक-भक्तिमार्गीयेषु क्रमेण शत्रूदासीनमित्रभावा[1] उक्ता भवन्ति । तर्हि किमुद्दिश्य किं कर्त्तव्यमिति चेत्तत्राऽऽहुर्जीवा इति, स्वभावतो दुष्टा इत्यर्थः । (तथा च) जीवानां सहजभगवदंशत्वेन सहजभगवद्दासत्वेन तत्सेवालक्षणस्वधर्माकरणं स्वभावदोष उच्यते । अतस्तेषां दोषाभावाय श्रवणादि भगवच्छ्रवणकीर्त्तनादि सर्वदा निरन्तरं कर्त्तव्यत्वेन साधनमिति शेषः । ततः कः पुरुषार्थ इत्यत आहुस्तत इति । ततो दोषनिवृत्त्यनन्तरं श्रवणादितो वा भगवति प्रेम्णि जाते तेनैव तेषां सर्वमैहिकं पार-लौकिकं च कार्यं सिद्ध्यति । न किञ्चिदवशिष्यत इत्यर्थः । ननु पारलौकिकत्वेन मोक्षो वक्तव्यः । "कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं[2] व्रजेदि"ति वचनात् । एवं सति कथं मोक्षस्याऽनपेक्षितत्वमिति चेत् । एवम् । कीर्त्तनादेवेत्येवकारो मोक्षे कीर्त्तनातिरिक्तसाधनव्यवच्छेदको, न तु कीर्त्तनस्य मोक्षैकफलत्वसूचकः । तथा सति प्रेमरहितस्य मोक्षसाधनत्वेन कृतस्य तस्य स एव फलम् । प्रेमसहितस्याऽतथा कृतस्य न तत्फलमिति व्यवस्था । अन्यथा भगवानपि कथमेवं वदेत्, "सालोक्य-सार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना" इति । तेन भगवानपि तादृशेभ्यो भजनातिरिक्तं फलं न ददातीति सूचितम् । तथा च

१ प्रियभावा इति क. २ पदमिति ख. ग.

सर्वात्मभावेन तदीयत्वमेव भक्तिमार्गे मोक्षपदार्थः। तदेवेतरलौकिकवैशिष्ट्यात्पारलौकिकमित्युच्यते। अतो नाऽनुपपन्नं किञ्चित्। श्रीभागवते च, "भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः" इति। पद्मपुराणेऽपि, 'न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते। विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः' इति। ननु तदीयत्वं भगवदनुग्रहैकसाध्यम्। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति श्रुतेः। अतः कथं स्वकृतिसाध्यश्रवणादिना तत्सिद्ध्यतीत्यत आहुर्मोक्ष इति। यथोक्तरीत्या विष्णोः सकाशान्मोक्षः शिवतश्च भोगः सुलभस्तथा समर्पणेन स्वात्मप्रभृतिसर्वस्वनिवेदनेनाऽऽत्मनो जीवस्य तदीयत्वलक्षणो मोक्षो भवेदित्यर्थः। ध्रुवं निश्चितम्। नाऽत्र काचिदसम्भावनेति भावः। हीति युक्तोऽयमर्थः। अतदीयत्वकारणाभावात्। ननु समर्पणस्य तत्साधनत्वे श्रवणादिकथनस्य वैयर्थ्यमायाति, तस्य चाऽनुग्रहैकलभ्यत्वं न सिद्ध्यतीति चेत्। मैवम्। श्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तमागतस्य समर्पणं भवति। नाऽन्यथा। परस्परं हेतुहेतुमद्भावात्। अतस्तत्साधनत्वेन श्रवणादिकथनं साधुतमम्। किञ्च। आत्मनिवेदनं न स्वकृतिसाध्यम्, श्रवणादिजन्यत्वात्। किन्तु भगवदनुग्रहैकसाध्यम्। यतः श्रवणादि सर्वं तदनुग्रहरूपमेव। भक्तिहेतुनिर्णये तथा निरूपितत्वात्। अतः सर्वमनवद्यम्। ननु तदीयत्वं मोक्षत्वेन कथं स्तूयते, जन्मान्तरे गत्यन्तरसम्भवेन तल्लक्षणाभावादिति चेत्। एवम्। यथा मोक्षे न पुनरावृत्तिर्भवति तथाऽत्र तदीयत्वे सिद्धे पुनरावृत्तिर्नेत्यपुनर्भवत्वं लक्षणमस्तीति न तथाऽवधेयम्। तदुक्तं प्रभुणैव--"ये दारागारपुत्राप्तप्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे" इति। हित्वेति समर्पणानन्तरं दारादिषु स्वीयत्वपरित्याग उक्तः, न तु ज्ञानमार्गीयः। तत्र तु वैराग्योत्पत्तौ तेष्वसद्बुद्ध्या तत्परित्यागः स्वार्थमेव, न तु भगवदर्थम्। तथा सति स्वस्य भाराभावात्'कथं त्यक्तुमुत्सहे' इति तन्निर्बन्धं किमिति भगवान्वदेत्। अतो निवेदितात्मनः कदापि न त्यजति प्रभुरिति सिद्धम्। एवं भक्तिमार्गीयो मोक्षः ससाधनः प्रतिपादितः। यद्यपि मोक्षलक्षणे सिद्धेऽपि नाऽस्माकमुत्कर्षः समायातः कोऽपि। तथापि "अधिकं तत्राऽनुप्रविष्टं न तु तद्धानिरि"ति न्यायेन "तुष्यतु दुर्जन" इति न्यायेन वा तथोक्तम्। वस्तुतस्तु मोक्षेऽक्षरामृतपानमव्यक्तम्, अत्र तु तदधिकः परमानन्दानुभवो व्यक्तः, इति महत्तारतम्यम्।

---

१ ध्रोकेति ख ग. २ अतदीयकारणेत्यादि क. ३ तत्साधनत्वेनेति क. ४ नेत्यर्थ इति क.

ननु निवेदनमकृत्वाऽपि केचित्तदाश्रितास्तेषां का गतिरिति चेत्तत्राऽऽहुरतदीयतयेति ।

अतदीयतया चाऽपि केवलश्चेत्समाश्रितः ॥ १८ ॥

तदीयत्वव्यतिरेकेणाऽपि केवलः समाश्रितश्चेत्तदा केवलाश्रयणेनाऽपि गतिर्भवत्येव । "मां हि पार्थ व्यापश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिमि"ति वचनात् । न तावता तदीयत्वलक्षणो मोक्षः सिद्ध्यति, समर्पणाभात् । न वा गतिप्राप्तौ तदाश्रयस्तिष्ठति, तस्योभयनिष्ठधर्मत्वात् । साधनत्वेन स्वीकाराच्च । अतो नाऽयं फलरूपभक्तिमार्गः, किन्तु साधनरूप एव । "न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः" । स्वर्गापवर्गनरकेष्वि"त्यादिवचनविरोधात् ॥ १८ ॥

ननु जीवानां स्वतो ज्ञानाभावात्तदाश्रयतदीयत्वे कथं सिद्ध्येतामित्याशङ्क्याऽऽहुस्तदाश्रयेति ।

तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित्सदाऽऽचरेत् ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यमन्यथा ।
इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः ॥ १९½ ॥

इति श्रीमद्वैश्वानरावतार श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितो बालबोधः सम्पूर्णः ।

तदाश्रयतदीयत्वयोर्बुद्ध्यै ज्ञानाय किञ्चिदाचार्योपसत्तिरूपं साधनं सदा निरन्तरमाचरेदित्यर्थः । तत एव तत्सिद्धिर्नाऽन्यथेति तस्याऽवश्यकर्त्तव्यत्वमाहुः स्वधर्ममिति । "स्वधर्ममनुतिष्ठन्वै लोकः क्षेमाय कल्पत" इति वचनात्स्वधर्माचरणे कृते फलं तत्तन्मार्गीयं भवति, न तु तदकरण इति सिद्धम् । भक्तिमार्गे च मुख्यः स्वधर्मस्तदुपसत्तिरेवेति सैव कर्त्तव्येति भावः । "आचार्यवान् पुरुषो वेदे"ति श्रुतेः । श्रीभागवतेऽपि "आचार्यं मां विजानीयान्नाऽवमन्येत कर्हिचित् । न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः" । अन्यच्च, "यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ । भक्तिर्न स्याच्छ्रुतं तस्य मन्ये कुञ्जरशौचवत्" । पुराणान्तरेऽपि, "हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसादयेत्" । अतस्तामन्तरेण कृतस्यापि साधनान्तरस्य वैफल्यमाहुर्भारद्वैगुण्यमिति ।

---

१ आरभ्य छन्द्रेणेति तस्योभयनिष्ठधर्मत्वादिति शोधितो ग पुस्तके पाठः । २ सेवेतेति ख, ग.

अन्यथा तदकरणे भारद्वैगुण्यं द्विगुणो भारो भवेदित्यर्थः । फलाभावात्साधनकृतः तदकरणप्रत्यवायकृतश्चेति भारद्वयम् । उक्तमुपसंहरन्तीतीति । इतीति समाप्तौ । एवमुक्तप्रकारेण यावद्वक्तव्यं तावत्सर्वं कथितमित्यर्थः । ननु ततः किमत आहु- र्नैतज्ज्ञान इति । एतज्ज्ञाने जाते सति पूर्वस्थितो भ्रमो गच्छति । गतः पुनः परावृत्य न भवतीत्यर्थः ॥ १९½ ॥

चतुर्द्धा लौकिको मोक्षः सदोषत्वान्निराकृतः ।
अतस्त्वलौकिको मोक्षः स्वीकार्यो भगवत्परैः ॥ १ ॥

अन्ततोऽर्थोऽयमेवाऽस्य ग्रन्थस्य फलितोऽभवत् ।
एवमाचार्यकृपया बालबोधः प्रकाशितः ॥ २ ॥

विविधमतनिरूढभ्रान्तिगूढस्वमार्ग-
प्रचलितजनतायाः सुस्थिरत्वाय यत्र ।
स्वमतमवददग्निर्बालबोधे तदर्थं
कुरुत मतिमवश्यं सत्प्रकाशे तदीयाः ॥ ३ ॥

१ इतः परम्—

'श्रीमल्लक्ष्मणसूनुना विरचितः पुष्ट्यर्थमोक्षप्रदो
भक्तानामुभयोस्तु तन्मतिमतां सर्वस्वमस्मिन् कलौ ।
श्रीमद्विट्ठलदीक्षिताङ्घ्रिकमलप्रोन्मत्तसत्कालिना
श्रीमद्देवकि(?)नन्दनेन विवृतः श्रीबालबोधो मया ॥'

इति पद्यमधिकमुपलभामहे ख.

इति श्रीदेवकीनन्दनचरणकृतौ बालबोधप्रकाशः समाप्तः ।

---

२ इतः परम्—

तारापण्डितानां द्वे पद्ये

" निजोद्धरणहेतवे कपटमानुषीमाश्रित-
स्तत्तं सुरनरार्चितां विदितविठ्ठलेशान्वये ।
असूत रघुनाथतो यमिह जानकी नन्दनं
स एव जगदीश्वरो जयति देवकीनन्दनः ॥
तस्याऽऽज्ञया तत्कृतबालबोध-
प्रकाशसंज्ञो महनीयकीर्त्तेः ।
ताराभिधेनाऽयमलेखि रम्यो
ग्रन्थो भवग्रन्थिविनाशिसेव्यः ॥"

इति पद्यद्वितयमधिकमुपलभामहे ख.

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतः

बालबोधः ।

श्रीपुरुषोत्तमचरणविवृतिसमेतः ।

जयन्ति श्रीमदाचार्य्यवाचोऽर्थामृतवर्षणैः ।
पुमर्थादिगतभ्रान्तितापो याभिर्निवारितः ॥ १ ॥

नन्विहाऽनादौ संसारे केचन लोकायतिकास्त्यागभोजने प्रशंसन्ति । अन्ये पुनः स्वार्थमैश्वर्यादिकमेव बहु मन्यन्ते, वदन्ति च, "नमोऽस्तु राज्यवृक्षाय षाड्गुण्यगुरुशाखिने । सामादिचारुपुष्पाय त्रिवर्गफलदायिने" इति । अपरे कीर्त्त्यर्थमेव यतन्ते, वदन्ति च, "यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोकेषु गीयते । तावद्वर्षसहस्राणि पुण्यलोके महीयते" इति । केचन पुनः कामानेव साधयन्ति, वदन्ति च, "शरीरस्थितिहेतुत्वादाहारसधर्माणो हि कामाः फलभूताश्च धर्मार्थयोस्सन्ति" । तथेतरे स्मार्त्ताद्याचारम्, वदन्ति च, "धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यत" इति । "आचारप्रभवो धर्म" इति । "शौचाचारविहीनानां समस्ता निःफलाः क्रियाः" इति । अन्ये तु धर्म एव प्रवर्त्तन्ते, वदन्ति च, "मोक्षार्त्ते न प्रवर्त्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः । नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासये"ति । केचन तपसि, "तपसा देवा देवतामग्र आयन्नि"त्यादिश्रुतेः । तथाऽन्ये साङ्ख्ययोगविदः संन्याससत्यशमदमादिषु, "न्यास इत्याहुर्मनीषिण" इति, "सत्येन वायुरावाती"ति, "शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ती"ति, "दमेन दान्ताः किल्बिषमवधुन्वन्ती"ति श्रुतेश्च । इतरे शिवमुपासते । अन्ये च विष्णुम् । ततस्ततश्च सकलां सिद्धिं मोक्षं चाऽऽहुः । प्रभुभिश्च भक्तिमार्ग उपदिष्ट इति किमसङ्ख्याताः पुमर्था, उत नियताः । यदि नियतास्तर्हि किं तुल्या उत गुणप्रधानभूताः । यदि गुणप्रधानभूतास्तर्हि गुणभूतानां साधनानां फलं प्रति समुच्चयो विकल्पो वा । व्यवस्थितिर्वा । फलं च किमेकमुताऽनेकम् । इति सन्दिहानानां स्वानां सन्देहजनकं तत्र तत्रोपादेयताभ्रमं वारयितुं मङ्गलवाक्य एव मुख्यं फलं साधनव्यवस्थां च सूच-

यन्तस्तदितरस्य हेयत्वावबोधनार्थं पुमर्थप्रतिपादकसर्वशास्त्रसिद्धान्तसङ्ग्रहनिरूपणं प्रतिजानते नत्वेत्यादि ।

नत्वा हरिं सदानदं सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहम् ।

बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ॥ १ ॥

अत्र हरिं सदानन्दमिति पदद्वयेन दुःखाभावार्थं भजतां फलान्तरार्थं च भजतां "फलमत उपपत्तेरि"ति न्यायसिद्धं फलदातृत्वं स्वतः पुरुषार्थत्वेन भजतां च "यो वै भूमा तत्सुखम्" "कृषिर्भूवाचकः शब्दः" "ब्रह्मविदाप्नोति पर"मित्यादिश्रुतिभिः "जगद्व्यापारवर्जमि"त्यादिन्यायैश्च सिद्धं, परमानन्दरूपफलात्मकत्वं च बोधितम् । नत्वेत्यनेन दैन्यपूर्वकभजनस्योपलक्षणविधया साधनत्वं बोधितम् । तावता "मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः । मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत्कुतस्तद्विषयात्मनाम्" "भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेदि"त्यादिनिर्णीता मुख्यफलसाधनव्यवस्था च सूचिता । एवं मङ्गलं विधाय विषयमाहुः **सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहमिति** । सर्वेषां पुमर्थप्रतिपादकानामुपादेयानां हेयानां च शास्त्राणां यः सिद्धान्तः फलसाधननिष्कर्षस्तेषां सम्यक् ग्रहो ज्ञानं येन तादृशं ग्रन्थम् । सङ्ग्रहं समासं वा । व्यासेन कथने ग्रन्थबाहुल्याद्वृथाकालक्षेपबुद्धिक्षोभयोः सम्भवादिति द्वारकेश्वराः । यद्यपि तत्तच्छास्त्रैरपि तत्तन्मतज्ञानं भवति, तथापि, तत् भ्रान्तिसंवलितमेव तद्वक्तॄणां प्रतारकत्वात्तेषां तथात्वं च तथैवेश्वरशिक्षयेति देवकीनन्दनाः । यद्यपि मन्वादीनां कपिलादीनां च न प्रतारकत्वं तथापि "धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परम"इति वाक्याज्जघन्याधिकारकतन्निरूपणादिना मुख्याधिकारिणः प्रति फलतस्तथात्वमिति तेषामाशयः । प्रयोजनमाहुर्बालप्रबोधनार्थायेति । बालाः स्वतो हिताहितानभिज्ञतया शुद्धभावेन च दयापात्राणि । तेषां प्रकर्षेण बोधनमितरफलसाधनविषयकोपादेयताभ्रमनिरासेन यथाधिकारं भक्तौ प्रपत्तौ वा प्रवेशनसमर्थबोधोत्पादनम् । तेन योऽर्थस्तदुद्धारस्तदर्थमित्यर्थः । प्रकारमाहुः **सुविनिश्चितमिति** । सुष्ठु वेदादिप्रमाविशेषत ऐकाग्र्येण निश्चितं निर्द्धारितम् । तेन तत्तत्सिद्धान्तमात्रं नोच्यते, किन्तु तत्सङ्गृह्य तेषामुत्कृष्टमपकृष्टं वा यद्यस्य स्वरूपं वेदाद्यविरोधेन सिद्ध्यति तदत्र बोध्यत इति प्रकारो दर्शितः ॥ १ ॥

एवं प्रकारं फलसम्बन्धं च बोधयित्वा प्रथमतः पुरुषार्थविषयकं सन्देहमपाकर्तुं तन्निश्चयं सङ्ग्रहेणाऽऽहुर्धर्मेत्यादि ।

---

१ सम्यगिति क. २ कुतस्तु इति ख. ३ मुक्तेति क.

धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम् ।
जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ॥ २ ॥

चत्वार इति सङ्ख्यया मनिषिणामिति यथार्थविषयग्रहणसमर्थबुद्धिमद्वाचकपदेन च नानापुरुषार्थवादो भ्रान्तप्रतिपन्नत्वादनुपादेय इति बोधितम् । धर्मेत्याद्याख्याकथनेन पुरुषार्थदेवतावत्त्वबोधनाद्धर्मादिरूपेणैव पुरुषार्थता न यज्ञादिरूपेणेत्यपि सूचितम् । देवकीनन्दनास्तु—अत्र केवलार्थपदाल्लौकिका एव चत्वारोऽनुपादेयत्वायोच्यन्त इति पुरुषार्थाभासत्वबोधनायाऽऽख्यापदमित्याहुः, तेन तेषां मते वैदिकानां मर्यादामार्गे पुरुषार्थता । भक्तिमार्गे तेऽप्यनुपादेया इति भक्तिमार्गोत्कर्षमात्रबोधनार्थः सर्वो ग्रन्थः । द्वारकेश्वराणां मते त्वन्येषां निष्कर्ष[1]बोधनार्थ इति विशेषः । तत्र धर्मो नाम चोदनालक्षणोऽर्थः । चोदना च "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" "न हिंस्यात्सर्वा[2] भूतानी"त्यादिविधिनिषेधभेदेन द्विविधा । तेन धर्मोऽपि बाह्यक्रियात्मा निवृत्त्यभिसन्धिरूपान्तरक्रियात्मा च सामान्यतः प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदेन च द्विविधः । अर्थस्तु स्रक्चन्दनवनिताभरणगृहादिभेदेनाऽनन्तविधः । कामोऽपि तत्तदिन्द्रियविषयभोगात्माऽनन्तविधः । मोक्षस्तु विश्वमायानिवृत्तिरूपेण स्वरूपलाभरूपेण वा एकविध एव । अवान्तरतन्त्रभेदेन बहुविधं ते ते आहुः । तथापि स्वरूप एव भेदो न तु नाम्नीत्याख्यापदम् । अर्थ्यन्ते मे सन्त्विवति स्वसम्बन्धितया इष्यन्त इत्यर्थः । तेनैतेषां पुरुषार्थत्वप्रयोजकं रूपमुक्तम् । एवं पुरुषार्थान्निष्कृष्य तुल्यातुल्यत्वसन्देहनिरासाय तदवान्तरभेदं विवेक्तुमाहुर्जीवेत्यादि । हि यतो हेतोस्ते जीवैरीश्वरेण च कृतो यो विचार उपपत्तिभिः समर्थनेन तत्स्वरूपादिनिश्चयस्तेन विचारिता निर्द्धारिता, अतो विचारकृतप्रकारेण द्विधा सन्तीत्यर्थः । तथा च यद्यपि वेद एकस्तथापि तदर्थभानभेदात्तेषां द्वैविध्यमिति भावः । ईश्वरपदेन वेदो गृह्यत इति द्वारकेश्वराः ॥ २ ॥

एवं द्वैविध्यमुपपाद्य ईश्वरविचारितानां स्वरूपमाहुरलौकिका इत्यादि ।

अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसंयुताः ।
लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास्तथैवेश्वरशिक्षया ॥ ३ ॥

तुर्जीवविचारितपक्षनिरासे । अलौकिका वक्ष्यमाणलौकिकविलक्षणस्वरूपाः । वेदोक्ता वेदादेव प्रमिताः । साध्यसाधनसंयुताः, साध्यमवान्तरपरिकरादि, साधनमुपायः, ताभ्यां सम्यग्युताः, अव्यभिचरितसाध्यसाधनभावा इत्यर्थः ।

---

१ निकर्ष इति क. २ सर्वभूतानीत्युपलब्धम् ।

तद्यथा । "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते"त्यादिवेदवाक्येभ्यो यागाद्यात्मा धर्मः प्रमितो भवति । तदवान्तरपरिकरोपायादिकमपि "अरुणया एकहायन्या गवा पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति" "वारणो यज्ञावचरो[1] वैकङ्कतो यज्ञावचर" इत्यादिश्रुत्यैव प्रमितं[2] तदुक्तयैवाऽऽनुपूर्व्या[3] यज्ञादिरूपं धर्ममव्यभिचारेण साधयति । तथा "उद्भिदा यजेत पशुकाम" इत्यादिश्रुतिभिः प्रमितोऽर्थोऽपि तदुक्तप्रनाड्यैव सिद्ध्यति । तद्वत् छान्दोग्ये वामदेव्यसामोपासनायां छान्दोग्ये बृहदारण्यके च पञ्चाग्न्युपासनायां रसब्राह्मणे च "उपमन्त्रयते सहिङ्कार" इत्यादिना "योषा वा व गौतमाग्निरिति योषा वा अग्निर्गौतम एषां वै भूतानां पृथिवी रस"इत्युपक्रम्य "स स्त्रियं ससृजे तां सृष्ट्वाऽध उपास्त" इत्यादिना च प्रमितः कामोऽपि तदुक्तरीत्या सिद्ध्यति । एवं "ब्रह्मविदाप्नोति परमि"त्यादिना मैत्रेयीब्राह्मणादिना च प्रमितो मोक्षोऽपि पुष्टिमर्यादाभेदेन यथाधिकारमुक्तया प्रनाड्या सिद्ध्यति । तत्तत्साधनानि न व्यभिचरन्ति । द्वारकेश्वरा अप्येवमेवाऽऽहुः । देवकीनन्दनास्तु "धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्ये"ति प्रथमस्कन्धीयार्थसङ्ग्राहकस्य "धर्मो ह्यर्थेन साधित" इत्यस्य स्वारस्यादन्योऽपि साध्यसाधनभावः सङ्गृहीत इत्याहुः । तेन चत्वारोऽपि सपरिकरा लौकिकेभ्यो विलक्षणाः । आपाततः साम्यं तु साजात्याल्लोकदृष्ट्या प्रतीयते मृत्काञ्चनघटयोः स्फटिकहीरकयोरिव, न तु तत्स्वरूपैक्यं नियन्तुमलं भवति । तस्मात्ते अलौकिका एवेति निश्चयः । द्वारकेश्वरास्तु वेदोक्तानां पुरुषोत्तमसम्बन्धित्वेनाऽलौकिकत्वमाहुः । देवकीनन्दनास्तु ब्रह्मवादमाश्रित्य वैदिकानां साध्यसाधनफलानामलौकिकत्वमिच्छन्ति । अहं तु वाक्योक्तस्वरूपमादाय वदामीति विशेषः । जीवविचारितानाहुर्लौकिका इत्यादि । ऋषिभिर्मन्वादिभिर्विशालाक्षादिभिर्नन्द्यादिभिः कपिलादिभिः प्रोक्ता धर्मादयो लौकिकाः स्मृतिसिद्धा इत्यर्थः । नन्वृषीणां सर्वज्ञानां वेदवेत्तृत्वात्तदुक्तानां कथं वैदिकेभ्यो भेद इत्याकाङ्क्षायां तत्रोपपत्तिमाहुस्तथैवेश्वरशिक्षयेति । प्रपञ्चवैचित्र्येणाऽधिकारिभेदात्तत्तदर्थमीश्वरेण तथैव शिक्षिता अतस्तथेत्यर्थः । इदमपि "नो लङ्घनीयाः कुलदेशधर्माः" "शूद्रेषु दासगोपालः" "चतुर्थीमुद्वहेत्कन्याम्" "योगेनैव दहेदंह" इत्यादिवाक्यैस्तु मीयते । द्वारकेश्वरास्तु तथैव स्वप्रकृत्यनुसारेणैव ईश्वरस्य वेदस्य शिक्षया अर्थावबोधेनेत्यर्थमाहुः । इदमप्येकादशस्कन्धे चतुर्द-

---

१ यज्ञाविचर इति क. २ प्रमितः इति ख. ग. घ. ३ तदुक्तयैवाऽऽनुपूर्व्या यज्ञादिरूपं साध्यं धर्ममव्यभिचारेण साधयन् (?) अपूर्वं यद्धर्माख्यं नित्यं भगवद्रूपं तदभिव्यक्तं करोतीति क. घ. पाठोऽयमविरुद्धोऽपि मूलनैरपेक्ष्यान्न प्राधान्येनाऽऽदृतः ।

शेऽध्याये "वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिन" इत्याद्युद्धवप्रश्ने "कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता । मयाऽऽदौ ब्रह्मणे" इत्यारभ्य "मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ । श्रेयो वदन्त्यनेकान्त्याद्यथाकर्म यथारुची"त्यन्ते सन्दर्भे सिद्ध्यतीति न शङ्कालेशः ॥ ३ ॥

एवं द्विविधानां स्वरूपमुक्त्वा लौकिकतत्प्रवक्तृणामृषीणामानन्त्यात्तदुक्तिषु हेयोपादेयभावं बोधयितुं वैदिकानां निःसन्दिग्धत्वं च बोधयितुमाहुर्लौकिकानित्यादि ।

लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदाद्या अतः स्थिताः ।
धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् ॥ ४ ॥
त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते ।

लौकिकान् स्मार्त्तान् धर्मादीन् । तुः शिष्यपरिगृहीतपक्षनिरासे । प्रकर्षेणेतरविवेकेन वक्ष्यामि कथयिष्यामीत्यतो हेतोः आद्या अलौकिका वेदात्काण्डद्वयात्मकात् स्थिताः जैमिनिकल्पकारबादरायणैराचार्यैः शब्दादिबलाबलं विचार्य शब्दादेव गुणप्रधनभावेन व्यवस्थापिताः । तथाच यदि वैदिकधर्मेप्सुस्तदा यथाशाखं कल्पेन जैमिनीयेन च धर्मं साधयेत् । तथैवाऽर्थेप्सुरपि ताभ्यां तम् । यदि कामेप्सुस्तदा तथैव तमपि । मोक्षेप्सुस्तु यथाधिकारं वैयासेन ब्रह्मवादेन स्वतो मोक्षं भेदवादविशिष्टाद्वैतवादविशिष्टभक्त्यादिभिः परतो मोक्षमिति निबन्धादौ निर्णीतमेव । अतस्तेषामसन्दिग्धत्वादन्त्यानेव कथयिष्यामीत्यर्थः । एवं प्रतिज्ञाय "मानाधीना मेयसिद्धि"रिति मानकथनमुखेनैवाऽऽहुर्धर्मेत्यादि । धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि गृह्यसूत्रादीनि च । तेनाऽऽगमा वामाद्या व्यावर्तिताः । नीतिः बृहस्पत्यादिप्रणीतं राजनीतिशास्त्रम् । एकवचनं ब्राह्मवैशालाक्षबाहुदन्तकबार्हस्पत्यौशनसप्राचेतसादीनामिदानीमप्रसिद्धत्वाद्राजधर्मादौ भारते दिङ्मात्रमुक्ताया अपि नीतेः कार्यक्षमत्वात्तत्परम् । तेन चौरद्यूतकारादिशास्त्राणि व्यावर्त्तितानि । कामशास्त्राणि वात्स्यायनसूत्राणि । ब्राह्मनान्दबाभ्रव्यादीनामिदानीमप्रसिद्धत्वेऽपि दन्तकादिप्रणीतशास्त्रार्थस्य वात्स्यायनसूत्रेषु सप्ताधिकरण्या कथनाद्बहुवचनम् । तेनाऽपि "मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिष्वि"त्यादिबोधकानि कौलादीनि व्यवर्त्तितानि । एतानि क्रमात् त्रिवर्गसाधकानि । तथा च तदुक्तरीत्या साधने धर्मार्थकामाः परस्पराविरोधेन सिद्ध्यन्ति । यथाऽऽह

१ एतेन 'यतः स्थिता' इत्यत्र 'अतः स्थिता' इति पाठः प्राप्यते परन्तु मूले तथा स्वीकारे प्रत्युत योजनायाः क्लिष्टत्वात् 'कथयिष्यामि यतो हेतोरि'ति विस्तृतावेव पाठः प्रतिभाति । २ तेनाऽऽगमाद्या व्यावर्त्तिता इति ख. ३ बादकैतकेति ख. बाददत्तकेति ग.

वात्स्यायनः, "किं स्यात्परत्रेत्याशङ्का यस्मिन्कार्ये न जायते। न चाऽर्थघ्नं सुखं चेति शिष्टास्तस्मिन्व्यवस्थिता" इति। अन्यथा साध्यमानास्तु परस्परविरोधादधर्मानर्थद्वेषाख्यदुष्टत्रिवर्गपर्यवसायिनो भवन्तीत्यर्थः। एवं त्रिवर्गे गुणप्रधानभावो गुणभूतसाधनव्यवस्था च सङ्क्षेपेण सूचिता। अतः परमधर्माद्यभावाय यथैतानि शास्त्राण्युक्तानि तथैतेषां निर्णयोऽपि तदर्थं वाच्य इत्याकाङ्क्षायामाहुरिति न तन्निर्णय उच्यत इति। इति त्रिवर्गसाधनत्वादेव हेतोः तेषां धर्मशास्त्रादीनां निर्णयो नोच्यते, "त्रैवर्गिकायासे"तिवाक्येन भगवन्मार्गे तेषामनुपादेयत्वान्नोच्यत इत्यर्थः॥ ४½॥

एवं त्रिवर्गव्यवस्थां सूचयित्वा मोक्षरूपं फलमेकमनेकं वेत्याकाङ्क्षायां तद्भेदं वक्तुमाहुर्मोक्ष इत्यादि।

मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः॥ ५॥
द्विधा द्वे द्वे स्वतस्तत्र सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ।
त्यागात्यागविभागेन सांख्ये त्यागः प्रकीर्तितः॥ ६॥

स्मार्तमोक्षविषयकाणि चत्वारि शास्त्राणीत्यर्थः। एतेन "प्रजामनु प्रजायन्ते तदु मर्त्यामृतं विदुरि"ति श्रुत्युक्तः "स्वर्गं मोक्षं सुखानि च। प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहा" इति पितृदेयो मोक्षस्तच्छास्त्रं च निवारितम्। एवमन्यदपि तन्त्रोक्तम्। कथमेवमित्यत आहुः परत इत्यादि। परतः स्वतः द्विधा परायत्तस्वायत्तभेदेन द्विप्रकारके मोक्षे द्वे द्वे शास्त्रे, तेन चत्वारीत्यर्थः। अवान्तरविभागं सप्रयोजकं[1] वक्तुं परायत्तमोक्षपक्षे विचारबाहुल्यात्तदनुक्त्वा सूचीकटाहन्यायेन स्वायत्तमोक्षप्रतिपादकविभागमाहुः स्वत इत्यादि। स्वतस्तत्र स्वायत्ते मोक्षे त्यागात्यागविभागेन साङ्ख्ययोगौ दर्शनग्रन्थौ प्रकीर्त्तितौ आदृतत्वेन शिष्टैः कथितौ। तथा चैतौ शिष्टादृतावित्यर्थः। एतेन मोक्षप्रतिपादकौ कणभक्षाक्षचरणदर्शनग्रन्थौ शिष्टानादृतत्वेन व्यावर्तितौ। अत एव पराशरोपपुराणे "अक्षपादप्रणीते च काणादे साङ्ख्ययोगयोः। त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोंऽशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिरि"ति। "एतेन शिष्टापरिग्रहा व्याख्याता" इति व्याससूत्रञ्च। तेन कैमुतिकन्यायादेव तथागतार्हतलोकायतादिव्यावृत्तिरपि सूचिता। एवं प्रयोजकभेदमुक्त्वा[2] क्रमे प्रातिलोम्यभ्रमं वारयितुमाहुः साङ्ख्ये त्यागः प्रकीर्त्तित इति। साङ्ख्ये हि "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष" इति नित्यानित्यवस्तूनि[3] सङ्गृह्य तद्विवेकेन[4] पुरुषस्य

---

१ सप्रयोजनकमिति क. ग. २ प्रयोजनभेदमिति घ. ३ नित्यानि वस्तूनीति क. ४ तत्तद्विवेकेनेति क.

मोक्षः प्रतिपादितः । ततः " एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् । अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानमि"तीश्वरकृष्णाचार्येणाऽहन्ताममतात्यागो ज्ञानसाधनत्वेनोक्तः । साङ्ख्यप्रवचनेऽपि " तत्त्वाभ्यासान्नेति नेति त्यागाद्विवेकसिद्धिरि"तिसूत्रितम् । अर्थस्तु धर्मवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याख्यैः सप्तमी रूपैः प्रकृतिः पुरुषं बध्नाति । एकेन ज्ञानेन रूपेण सैव मोचयतीति तत्त्वाभ्यासात्पौनःपुन्येन मननात् पूर्वप्रतिपादितैर्न्यायैरनात्मनां त्यागाद्विवेकस्य सिद्धिर्दृढभूमित्वं भवतीति । तथा चैवं मोक्षसाधनत्वेनोक्तः । अतस्त्यागेन स्वायत्तमोक्षबोधकं साङ्ख्यशास्त्रमित्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥

अतः परं यदर्थमिदं साधनमुक्तं तस्य मोक्षस्य स्वरूपमाहुरहन्तेत्यादि ।

अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ ।
स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥ ७ ॥

पूर्वोक्तरीत्या प्रकृतिप्राकृतत्यागेन स्थूललिङ्गशरीराहन्तायास्तत्परिकरममतायाश्च नाशे सति बुद्धितत्त्वस्थे स्वप्रतिबिम्बेऽभिमानाभावेन कर्त्तृत्वभोक्तृत्वाभावात्सर्वथा निरहङ्कृतौ सर्वथोदासीनत्वे सति स्वरूपस्थो " जडप्रकाशयोगात्प्रकाश " इति सूत्रान्निर्विषयप्रकाशात्मत्वेन विद्यमानो यदा जीवः शारीर आत्मा भवति तदा स आत्मा कृतार्थो मुक्तो निगद्यते साङ्ख्याचार्यैरुच्यते । तथा च विस्मृतकण्ठमणिन्यायेन स्वस्वरूपे ज्ञाते बन्धो निवर्त्तत इति विविक्तस्वरूपमेव स्वतो मोक्ष इत्यर्थः । मायावादिमतेऽप्येवम् ॥ ७ ॥

ननु गौतमकणादादिमतवत्साङ्ख्यादिमतमप्यंशतः श्रुतिविरुद्धमिति कथं साङ्ख्यप्रतिपन्ने मोक्षे शिष्टानामादरः, चिद्धर्मकस्य जीवस्यैकविंशतिदुःखध्वंसात्मके अशेषविशेषगुणोच्छित्त्यात्मके च गौतमाद्युक्ते मोक्षे कथं नाऽऽदर इत्याकाङ्क्षायामाहुस्तदर्थमित्यादि ।

तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता ।
ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमबाह्यतः ॥ ८ ॥

" मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिरि"ति पुराणे मोक्षलक्षणात्तदर्थं तादृशमोक्षार्थं प्रक्रिया पञ्चविंशत्यादितत्त्वकथनरूपा प्रकृत्यादिभ्य आत्मविवेकसाधनार्था च सरणिः काचित्पुराणेऽपि निरूपिता । पुराणं श्रुत्युपबृंहणत्वाद्वेदार्थनिर्णायकमतस्तत्सामानाधिकरण्यादत्र शिष्टादरः । कणादाद्युक्तानां त्वस्मिन्नप्यंशे वैयधिकर-

१ ज्ञानरूपेणेति क. २ प्रकृतिप्रकृत्यत्यागेनेति क. ३ जडजीवप्रकाशयोगादिति ग. ४ तत्समानाधिकरण्यादिति क. ख. ग.

ण्यादनादर इत्यर्थः । ननु साङ्ख्यमनेकविधम् । क्वचित् षड्विंशतितत्त्वानि । क्वचित् पञ्चविंशतिः । क्वचित् षोडश सप्तदशेत्यादि । तथा सति तेषामेकफलाभावात्कथं सर्वेषां साङ्ख्यानामादरणीयत्वमिति चेत्, तत्राऽऽहुः ऋषिभिरित्यादि । यद्यपि साङ्ख्य-प्रक्रिया ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता, तथापि, अबाह्यतः विमार्गपरिपोषितात्[1] आत्मव्यतिरिक्तत्यागरूपं यद्बाह्यमन्तरङ्गं[2] साधनं तत्सर्वत्रैकम् । ततो वा हेतोस्तासु सर्वास्वपि प्रक्रियासु फलं स्वरूपावस्थानात्मकमोक्षरूपमेकमेव[3] । अतो बाह्यसाङ्ख्य-व्यतिरिक्तं सर्वमेव साङ्ख्यं शिष्टादरणीयमित्यर्थः ॥ ८ ॥

एवं स्वतो मोक्षसाधकमेकं शास्त्रं निर्णीतम् । अतः परं द्वितीयं निर्णेतुमुपक्षि-पन्त्यत्याग इत्यादि ।

अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि ।
यमादयस्तु कर्त्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता ॥ ९ ॥

अत्यागे त्यागाभावे साधनत्वेन विवक्षिते योगमार्गश्चित्तवृत्तिनिरोधेनाऽऽत्म[4]-बोधको यः पन्थाः, स हि युक्तः पुराणसमानाधिकरणः । तथा च ततः शिष्टादृत इत्यर्थः । ननु त्यागाभावे कथं योगसिद्धिः कथं च मोक्ष इत्याकाङ्क्षायां तत्रत्यं साधनसमाज-माहुस्त्याग इत्यादि । हि यस्माद्धेतोर्मनसैव त्यागो "नैव किञ्चित्करोमी"त्याद्यु-क्तवत् । तु पुनः यमादयः यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधयो बाह्याभ्यन्तरा उपायत्वेन कर्त्तव्याः । तैः सिद्धे योगे चञ्चलस्य मनसोऽखिलवृत्ति-निरोधे दृढे सति[5] कृतार्थता आत्मनः स्वरूपावस्थानरूपमोक्षसिद्धिरित्यर्थः । एतेन निर्बीजसबीजयोगा अबाह्या यावन्तस्ते सर्वेऽपि योगत्वेन सङ्गृहीताः ॥ ९ ॥

एवं स्वतो मोक्षे द्वितीयं शास्त्रं निर्णीतम् । अतः परं[6] परतो मोक्षविषयकं शास्त्रद्वयं निर्णेतुं तत्रत्यमोक्षस्वरूपनिरूपणपूर्वकं तत्प्रपञ्चयन्ति पराश्रयेत्यादि ।

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते ।
ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस्तद्रूपेण सुसेव्यते ॥ १० ॥
ते सर्वार्था न चाऽऽद्येन शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम् ।
अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ ॥ ११ ॥

पराश्रयेण परस्य तत्तच्छास्त्रे सर्वोत्कृष्टत्वेन प्रतिपादितस्य आश्रयेण सर्वो-

---

१ विमार्गपरिपोषितादिति ग. २ वेदबाह्यमिति क. ३ मोक्षस्वरूपमिति ख. ग. ४ आत्मवाचक इति ग. ५ समदृढसति इति क. ६ परमिति नास्ति ख.

त्मना आलम्बनेन मोक्षः बन्धनिवृत्त्या सालोक्यादिचतुष्टयरूपः । तुः पूर्वपक्षनिरासे। केवलस्वरूपावस्थानरूपो न किन्तु तत्तदानन्दानभवात्मा। द्विधा परद्वैविध्यात् द्विप्रकारः। तेन तत्प्रतिपादकशास्त्रेऽपि द्वित्वमित्यर्थः। कथं द्वैविध्यमित्याकाङ्क्षायामाश्रयणीयरूपभेदादिति वक्तुं तन्निरूपणं प्रतिजानते सोऽपि निरूप्यत इति। अपिरनादरस्य सूचनाय। तत्र "लीलया परमेश्वराः" "वरदेशा वयं त्रयः" इत्यादिवाक्यैर्गुणदेवानां त्रयाणां पुराणेषु तुल्यतानिरूपणात्तौल्येऽपि सरस्वतीशापादिना ब्रह्मणः पूज्यत्वापगमान्मोक्षस्य सृष्टिविघातकत्वेन स्वकार्यप्रतिबन्धकत्वाच्च स मोक्षं न ददातीति तदर्थमनाश्रयणीयतां तस्योपपादयन्ति ब्रह्मेत्यादि। ब्रह्मा रजोयुक्तोऽभिमानी अनभिमानी वा ब्राह्मणतां ब्रह्म वेदः परब्रह्म वा तज्ज्ञातृतां वर्णविशेषाभिमानिब्रह्माख्यदेवताधिष्ठानतां वा यातस्तद्रूपेण ब्राह्मणरूपेण सुतरां ब्रह्मज्ञानार्थं वेदाध्ययनार्थं ब्रह्मवर्चसाद्यर्थं च सेव्यते, न तु मोक्षदातृत्वेन ॥ १० ॥

तत्र गमकमाहुस्ते सर्वार्था न चाद्येन नेति[1]। ते[2] चत्वारोऽर्थाः ब्रह्मणा न किन्तु द्वित्रा एव। ते वा सेवितारः। ब्रह्मणा प्राप्तसर्वार्था न किन्तु यत्किञ्चिद्वन्तः। दृश्यते हि श्रुत्यादौ मनोरिन्द्रस्य च वेदाध्ययनायाऽऽत्मज्ञानाय च ब्रह्मसेवा। "ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिमि"ति पुराणवाक्यम्। सुन्दोपसुन्दहिरण्यकशिपुप्रभृतीनामर्थकामावेव, न तु कस्याऽपि मोक्षदानमिति। देवकीनन्दनास्तु— तद्दत्तार्थकामयोरप्यग्रे नाशहेतुत्वादपुरुषार्थत्वमाहुः। अतः परं टीकान्तरमतं मया न लिख्यते। व्याख्यानस्य[3] क्लिष्टत्वात्। स्वस्य यथा भातं तथैव लिख्यते। तर्हि मोक्षदानसामर्थ्ये किं मानमत आहुः शास्त्रमित्यादि। मोक्षशास्त्रं वैखानसतन्त्रादिरूपं किञ्चिदुदीरितं यथा धर्मार्थकामा अध्यायानां शतसहस्रेण सप्रपञ्चमुक्तास्तथेदं नोक्तं किन्तु सङ्क्षिप्तमुक्तम्। भगवति देवत्वं प्रतिपाद्य तेन गुरुत्वोपाधिना मोक्षप्रयोजको भवतीति सामर्थ्यं विद्यते, परन्तु देवत्वोपाधिना न ददातीति नाऽऽश्रीयत इत्यर्थः। एवं तस्याऽनाश्रयणीयत्वे द्वयोरेव मोक्षदातृत्वान्मोक्षे द्वैविध्यमित्याशयेनाऽऽहुरत इत्यादि। यतो ब्रह्मा न स्वयं देवत्वेन मोक्षदो न वा देवत्वेन मोक्षशास्त्रप्रवर्तकः, अतः शिवः चकारात्तद्भजनं विष्णुः चकारात्तद्भजनं जगतः सर्वस्य हितकारकौ भजनेन चतुर्वर्गदातारौ॥ ११ ॥

वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्त्तकौ।
ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ ॥ १२ ॥

---

१ चेति ख. ग. घ. २ ते च चत्वारोऽर्था इति ख. ३ व्याख्यानक्लिष्टत्वादिति ख.

निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता ।
भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि ॥ १३ ॥
भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः ।

किञ्च, वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ विष्णुशिवयोरवश्यकर्त्तव्यौ । तावपि शास्त्रस्य चतुर्वर्गविषयस्य श्रुतिसमानाधिकरणपञ्चरात्रस्य तादृशपाशुपतस्य च प्रवर्त्तकौ । उत्पद्यमानानामतिपराधीनत्वादप्रौढत्वाच्च न स्वतः प्रवृत्तिर्मोक्षादिवीप्सा दुःखभीतिश्च । ततः स्थितानां संहरिष्यमाणानां स्थित्यादिना सुखदुःखाद्यनुभवात्प्रौढत्वाच्च या चतुर्वर्गेप्सा तदर्थं प्रवृत्तिर्भीतिश्च सा स्थितिसंहारप्रयुक्तैवेति तादृशां दर्शने दयया श्रुत्यविरुद्धशास्त्रकरणमिति तावेव प्रवृत्तिप्रयोजकौ । अतः स्वकार्याप्रतिबन्धादपि तौ तथेत्यर्थः । क्वचित्तु 'वस्तुनः स्थितिसंहारे कार्ये'इति पाठः । तथा 'वस्तुस्थितौ च संहारे कार्ये' इत्यपि पाठः । तदा वस्तुनः स्थितिसहिते संहारे वस्तुस्थितौ संहारे च कार्ये कर्त्तव्ये सति यच्छास्त्रं धर्मादिजनकं मोहकं वामादिकं च तस्य प्रवर्त्तकौ । तेनाऽमुग्धानां साक्षात् मुग्धानां च मोहतारतम्येन सन्निकृष्टविप्रकृष्टपरम्परया धर्मादीनामधर्मादिनिवृत्तेश्च जनकावतस्तथेत्यर्थो ज्ञेयः । इदमपि पुराणेषूक्तम् । तथा च कूर्मपुराणे देवदारुवनस्थानां गौतमशप्तानां मुनीनां प्रसङ्गे "न वेदबाह्ये पुरुषे पुण्यलेशोऽस्ति शङ्कर" इत्युपक्रम्य 'तस्माद्वै वेदबाह्यानां रक्षणार्थाय पापिनाम् । विमोहनानि शास्त्राणि करिष्यामो वृषध्वज । एवं संबोधितो रुद्रो माधवेनाऽसुरारिणा[१] । चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः । कापालं लागुडं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमम् । पाञ्चरात्रं पाशुपतं तथाऽन्यानि सहस्रशः' इति । अत्र शास्त्राणां विमोहनत्वस्य रक्षणार्थत्वस्य चोक्त्या पापादिना दुर्भाग्ययोगेन तत्र प्रवेशेऽपि बहुजन्मविपाकेनाऽधर्मनिवृत्तौ पुनः सन्मार्गलाभ इति सूचितम् । तेन न शङ्कालेशः । ब्रह्ममीमांसायां तर्कपादे "पत्युरसामञ्जस्यात्" इत्यनेन यदीश्वरस्य केवलनिमित्तत्वमिति वादस्य दूषणं तथा 'उत्पत्त्यसम्भवात्' इत्यादिना सृष्टिप्रक्रियांशस्य यद्दूषणं पाशुपतपञ्चरात्रयोस्तदेतदीययोरेव । न तु श्रुत्यविरुद्धयोः । इदं यथा तथा प्रहस्ताख्ये वादे निपुणतरमुपपादितमस्माभिः । ननु श्रुत्यविरुद्धे शास्त्रे तौ कथं हितकारकतया प्रतिपादितावित्याकाङ्क्षायां तत्प्रमेयं सङ्ग्रहेणाऽऽहुर्ब्रह्मैवेत्यादि । ब्रह्मैव तादृशं शिवरूपं विष्णुरूपं च । अथर्वशिखास्वथर्वशिरः[२]श्वेताश्वतरीयमन्त्रोपनिषत्कैवल्योपनिषत्सु शिवरूपेण महानारायणोपनिषन्नारायणोपनिषन्महोपनिषत्सु बालोपनिषत्सु

---

१ माधवेन मुरारिणेति क. २ अथर्वशिखाऽथर्वशिर इत्यादि क. ख. अथर्वशिक्षाऽथर्वशिर इत्यादि घ.

विष्णुरूपेण च ब्रह्मण एव प्रतिपादनात् । तत्तच्छास्त्रे श्रुत्यविरुद्धे पाशुपते पञ्चरात्रे च यस्माद्धेतोः सर्वात्मकतयोदितौ निमित्तोपादानात्मकत्वेनोक्तौ । निर्दोषपूर्णगुणता तयोः कृता । तेन ब्रह्मत्वमेव तयोः स्फुटीकृतम् । पाशुपते हि पशुपतिना पशुपाशविमोक्षणाय 'अथाऽतः पाशुपतं योगविधिं व्याख्यास्यामः' इत्यादिना कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताख्यैः पञ्चभिरध्यायैः–कार्यरूपो जीवः पशुः, कारणं पशुपतिरीश्वरः, योगः पशुपतौ चित्तसमाधानं, विधिर्भस्मना त्रिषवणादिस्ततो दुःखान्तसञ्ज्ञो मोक्षश्चोक्तः । एवं पञ्चरात्रेऽपि—भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वम् । स सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धैः सह चतुर्व्यूहः । तमभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगैर्यावज्जीवमिष्ट्वा क्षीणक्लेशो भगवन्तमेव प्रतिपद्यत इत्युक्तम् । तेन प्रमेयं श्रुत्यविरुद्धम् । तत्र देवतान्तरत्ववादस्तु श्रुतिपुराणविरोधादुपेक्ष्यः । आग्रहवादिनस्तु प्रतर्दनाख्यायिकावदनुगमाधिकरणेन दत्तोत्तरा इति प्रमेयमविरुद्धम् । साधनं चोभयत्राऽपि तत्तदुक्तप्रकारेण तत्पूजनम् । तदपि पुराणाविरुद्धम् । तेन तयोरपि मोक्षशास्त्रत्वमिति भावः । इदं सर्वं भारते मोक्षधर्मे उक्तम् । 'साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा । ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै । साङ्ख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते । हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नाऽन्यः पुरातनः । अपान्तरतमश्चैव[1] वेदाचार्यः स उच्यते । प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्तीह केचन । उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो[2] ब्रह्मणः सुतः । ऊचिवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः । पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम् । सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते । यथागतं तथाज्ञानं[3] निष्ठा नारायणः प्रभुः । न चैनमेवं जानन्ति तमोभूता विशाम्पते । तमेव शास्त्रकर्त्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः । निष्ठा नारायणमृषिं[4] नाऽन्योऽस्तीति वचो मम । निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं स वसते हरिः । निःसंशयान् हेतुबलान्नाऽध्यावसति माधवः" इति । अत्र साङ्ख्यादीनां पञ्चानां भगवत्परत्वं 'निष्ठा नारायणः प्रभुः' इत्यन्तेनोक्त्वा 'न चैनमि'त्यर्द्धेन एवं ब्रह्मरूपेण न जानन्ति किन्तु देवतारूपेणाऽऽत्मरूपेणेति फलभेदे हेतुरुक्तः । ततः 'तमेव शास्त्रे'ति श्लोकेन शास्त्रकर्तृणां स्वस्य चाऽऽशय उक्तः । अत्र[5] प्रवदन्तीत्यस्य बोधयन्तीत्यर्थः 'तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ती'तिवत् । किञ्च । ऋषिपदेन मन्त्रद्रष्टृत्वबोधनात्तेष्वाविश्य तत्तत्प्रकाशकत्वं[6] बोधि-

---

१ अपान्तरतमाश्चैवेति क. २ केशवमिति ख. घ. केशवेति ग. ३ यथाज्ञानमिति क. ४ मुनिरिति ग. ५ अत्र प्रवदन्तीत्यारभ्य तत्तत्प्रकाशकत्वं बोधितमित्यन्तं न दृश्यते ग्रन्थः क. ख. ग. ६ तत्तत्प्रकाशकत्वञ्चेति घ. [illegible] न पश्यामः । तदर्थं चकारो लेखकप्रमाद एवेति भाति ।

तम्। ततो 'निःसंशयेष्वि'तिश्लोकेन तमोभिभूतानां स्वरूपावस्थानमात्रं देवतारूपादेव तत्सायुज्यान्तं फलञ्च, न तु भगवदानन्दो भगवद्दत्तो वा भजनानन्द इति निरूपितम्। तेन तन्मोक्षस्य स्मार्तत्वाल्लौकिकत्वं समर्थितम्। न चाऽत्र पञ्चरात्रस्य नारायणवक्तृकत्वकथनात्कथं जीवविचारितत्वमिति शङ्क्यम्। 'तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः। तन्त्रं सात्वतमाचष्ट' इत्यादिवाक्येषु नारदवक्तृकत्वस्याऽपि कथनाचस्याऽऽवेशित्ववदत्राऽप्यावेशिन एव वक्तृकत्वात्। निष्ठास्थले तु पर एव परामृश्यत इति न कोऽपि विरोधः। एवं मोक्षविषये सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहं निरूप्य पञ्चानां याथातथ्येनाऽर्थज्ञानवतां तत्तत्सिद्धान्ते प्रवृत्तानां किं तुल्यं फलमुत फलभेद इत्याकाङ्क्षायां साङ्ख्ययोगयोः स्वरूपावस्थानमात्रस्य फलस्य कथनात्तत्र तावदेव फलं तच्च पूर्वमेवाऽनूदितमिति तदनुक्त्वा पाशुपतपञ्चरात्रयोः फलं तत्प्रतिपाद्यस्वरूपविचारेणाऽऽहु भोगेत्यादि। तत्तच्छास्त्र उभयदातृत्वस्योक्तत्वाद् द्वावपि द्वयोर्दाने यद्यपि समर्थौ, तथापि श्रीभागवते दशमस्कन्धे 'देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम्। प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम्'इति प्रत्यक्षानुरोधिनि राजप्रश्ने 'शिवः शक्तियुतः शश्वत्त्रिलिङ्गो गुणसंयुतः[3]। वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा। ततो विकारा अभवन् षोडशाऽमीषु कञ्चन। उपधावन्[4] विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम्। हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः। स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेद्'इति श्रीशुकेन स्वरूपं विचार्य तादृशफलनियमसमर्थनात् भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुना इति विशेषतो निश्चयः पुराणस्य श्रुत्युपबृंहणत्वेन श्रुत्यभिप्रेतोऽयमेव निर्णय इत्यर्थः। तथा सति पुराणे श्रुतौ च यच्छिवस्य मोक्षप्रदत्वं विष्णोश्च भोगप्रदत्वं यदुच्यते तत्सामर्थ्याभिप्रायं न तु दानाभिप्रायम्। वस्तुतस्तु रूपविशेषेण फलविशेषो नियत एव। अत एव 'ईश्वराज्ज्ञानमन्विच्छेन्मोक्षमिच्छेज्जनार्दनादि'ति वाक्यम्।

परन्तु युक्त्यभावे एतद् बालैर्नाऽवधारयितुं शक्यमित्यतस्तत्र लौकिकीं युक्तिमाहुर्लोकेऽपीत्यादि।

लोकेऽपि यत्प्रभुर्भुङ्क्ते तन्न यच्छति कर्हिचित्॥ १४॥

स्फुटमेतत्। तथा च 'यस्याऽनवद्याचरितं मनीषिणो गृणन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः। निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत्स्वयं पिशाचचर्यामचरत्सतां गतिः। हसन्ति यस्याऽऽचरितं हि[5] दुर्भगाः स्वात्मन् रतस्याऽविदुषः समीहितम्। यैर्वस्त्र-

१ देवतारूपाद्देवतासायुज्यान्तमिति क. २ फलं नत्विति चकारहीनः पाठः क.ख.ग. ३ गुणसंवृत इति क. ४ अपधावन्निति ख. ग. ५ सुदुर्भगा इति ग.

माल्याभरणानुलेपनैः श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितमि"त्यादिवाक्येषु पिशाचचर्याया भोगत्यागस्याऽऽत्मरतत्वस्य च कथनेन शिवस्य सर्वदा मुक्तिर्भोग्या । 'अनन्वितं ते भगवन्विचेष्टितं यदात्मना चरसि हि कर्म नाऽज्यसे । विभूतये यत उपसेदुरीश्वरीं न मन्यते स्वयमनुवर्त्ततीं भवान् । यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथापि तस्याऽङ्घ्रियुगं नवं नवम् । पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलाऽपि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचिदि"त्यादिवाक्येष्वनपेक्षस्याऽपि लक्ष्म्या अत्यागकथनात्सर्वत्र पुरुहूतरूपेणैव प्राकट्याद्भोगो भोग्यः स्फुट एव । तेन स्वभोग्यत्वाच्छिवो मुक्तिं विष्णुर्भोगं च न ददातीत्यर्थः । वस्तुतस्तु "आत्मारामोऽपि यस्त्वस्य जीवलोकस्य राधसे । शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः" इति वाक्याद्धोरशक्तिनियमानुरोधेनोक्तसन्दर्भबोधितोपासकदोषेण च मोक्षं शिवो न ददाति । 'भक्ताय चित्रा भगवान्हि सम्पदो राज्यं विभूतीर्न समर्द्धयत्यजः । अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवमि'ति वाक्याद्भोगदोषदर्शनेन 'न मन्यते' इति वाक्याच्छक्त्यनधीन इति स्वातन्त्र्येण च भोगं विष्णुर्न ददातीति भावः । द्वारकेश्वरा अप्येवमेवाऽऽहुः ॥ १४ ॥

नन्वेवं सर्वथा अदाने पाशुपततन्त्रस्य मोक्षशास्त्रत्वं भज्येत । "अपत्यं द्रविणं दारा हारा हर्म्यं हया गजाः । सुखानि स्वर्गमोक्षौ च न दूरे हरिभक्तित' इत्यादिवाक्ये उक्तं भगवद्भक्तेरपत्यादिसाधनत्वं च विरुद्धचेतेत्याशङ्कायामधिकारिविशेषे दानमाहुरतिप्रियायेत्यादि ।

अतिप्रियाय तदपि दीयते क्वचिदेव हि ।
नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः ॥ १५ ॥
प्रत्येकं साधनश्चैतद् द्वितीयार्थे महाञ्छ्रमः ।
जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा ॥ १६ ॥
श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति ।

अतिप्रियाय परमप्रीतिविषयाय तदपि स्वभोग्यमपि दीयते । दीङ् दाने । ददाति । इदमपि लोकसिद्धम् । अन्यथा कृपणत्वं स्यात् । तत्र गमकमाहुः क्वचिदेव हीति । हि यस्माद्धेतोः क्वचिदेव पुरुषविशेष एव मयबाणसदृशे शिवो मोक्षं ददाति ।

---

१ "अतः परं टीकान्तरमतं मया न लिख्यते" इति पूर्वमुक्तेऽपि यदिह टीकान्तरमतोपन्यासः स सम्मतिप्रदर्शनार्थः । न तु मतान्तरतयेति मे भाति । अन्यदीयं टिप्पणमेव वा प्रमादाद् ग्रन्थप्रविष्टं भवेत् । २ भगवद्भक्तेः स्मृत्यादिसाधनश्चेति क.

उपरिचरवस्वादिसदृशे विष्णुर्भोगं ददाति। तेन अतिप्रियायैव ददातीति निश्चीयते। तस्मादुभयदानशक्तौ न सन्देहो नाऽपि मोक्षशास्त्रत्वभङ्गो न वा वाक्यविरोध इत्यर्थः। द्वारकेश्वरास्तु अतः प्रियायेति पेठुः। एवमत्र साधनभेदेन फलभेदः साधितः। अतः परं तयोः शास्त्रयोर्यत्साधनं प्रतिपादितं तत्करणेऽपि कथं कस्यचिदेवाऽतिप्रियत्वमित्याकाङ्क्षायां तन्न तत्साधनोपचयात्किन्तु शास्त्रान्तरोक्तात्तदुक्ताद्वा साधनान्तरादिति वक्तुं फलबलेनाऽतिप्रियत्वसाधनमाहुर्नियतेत्यादि। अतिप्रियत्वनियतो यो भोगमोक्षरूपोऽर्थस्तस्य प्रदानेन लक्ष्म्या इव स्वस्येव (१) सम्पादनेन हेतुना तदीयत्वं तदाश्रयः एतदुभयं पुराणोक्तं समुदितं प्रत्येकं च साधनम्। तथा चैताभ्यां प्रत्येकसमुदिताभ्यामतिप्रियत्वे यथाधिकारं भोगस्य मोक्षस्य च दानमित्यर्थः। ननु सामर्थ्ये विद्यमाने शिवो मोक्षं विष्णुश्च भोगं यन्न ददाति तदिदमौदार्यविरोधीत्यत आहुर्द्वितीयार्थे महाञ्छ्रम इति। सर्वेभ्यः साधारण्येन दीयमानाद्व्यतिरिक्तो द्वितीयः। तदर्थे तयोर्महान् प्रयासः। अतो न ददतः। तथाच न ह्युदारः प्रयासं कृत्वा ददात्यपि त्वयत्नसिद्धमिति लोके दृष्टमतो न दोष इत्यर्थः। यद्वा। तदेव वक्तुं फलबलेन साधनाभावकथनपूर्वकमतिप्रियत्वस्याऽतिरिक्तं साधनमाहुर्नियतेत्यादि। साधारणेभ्यो नियतस्याऽर्थस्य प्रदाने सति न तदीयत्वं तदाश्रयश्च न। एतच्च द्वितीयार्थे साधारणदेयव्यतिरिक्तार्थे प्रत्येकमपि साधनम्। यद्येतत्स्यात्तदाऽतिप्रियत्वात्तदेव दद्यान्न तु साधारणवतस्तथेत्यर्थः। ननूदारस्य साधनापेक्षा नोचितेत्यत आहुर्महाञ्छ्रम इति। अर्थस्तूक्त एव। कुतो महानित्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति जीवाः स्वाभावतो दुष्टा इति। जीवाः शारीरात्मानः सलिङ्गाः। "एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्षोडशविस्तृतम्। एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते" इति चतुर्थस्कन्धे नारदवाक्यात्। यद्यपि श्रुतौ केवला अपि जीवपदेनोच्यन्ते। तथापि, 'त्रयः[३] प्राजापत्या देवा मनुष्या असुराश्चे"ति श्रुतेः, "उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देवदानवमानवाः" इत्यादिपञ्चरात्रवाक्याच्च देवत्वादिवैशिष्ट्यं सलिङ्गानामेवेति तादृशा एवाऽत्र ग्राह्याः। तेषां च स्वभावतः लिङ्गवैशिष्ट्यतो यः साहजिको देवमनुष्यासुरत्वरूपो धर्मस्तस्माद्दुष्टाः अविद्याकामकर्मजवासनाविशेषदोषभाज इति तद्दाने पात्रत्वायाऽयोग्याः। तथा च योग्यतार्थं स्वभावपरावर्त्तनस्य

---

१ अतीति ख. "अतः परमि"त्यादिप्रतिज्ञाविरोधादत्र तु ग्रन्थबहिर्भूतत्वमनिवार्य्यमेव सर्वत्रोपलम्भात्तु निरासमाहसमनाश्रयणीयमेव। २ ददत इति ख ग. घ. ३ स्वभावतः त्रयः प्राजापत्या देवा मनुष्या असुराश्चेति श्रुतेः। उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देवदानवमानवा इत्यादिपञ्चरात्रवाक्याच्च यः साहजिको देवमनुष्येत्यादिःपाठः ख.ग.

कर्त्तव्यत्वान्महानित्यर्थः । अयमाशयः । मत्स्यपुराणसमाप्तौ कल्पानुकीर्त्तनाध्याये 'सङ्कीर्णाः सात्त्विकाश्चैव राजसास्तामसास्तथा' इति चतुर्विधान् कल्पान् प्रदर्श्य 'अग्नेः शिवस्य माहात्म्यं तामसेषु प्रकीर्त्यते । राजसेषु तु माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः । सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां च निगद्यते । सात्त्विकेष्वथ कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः । तेष्वेव योगसंसिद्धा गमिष्यन्ति परां गतिम्' इति चतुर्विधानां लक्षणोक्तिपूर्वकं सात्त्विकेष्वेव सावधारणं मोक्ष उच्यते । तथा कौर्मेऽपि सात्त्विककल्पान् प्रकृत्य 'ध्यानं तपस्तथा ज्ञानं लब्ध्वा तेष्वेव योगिनः । आराध्य मां च गिरिशं यान्ति तत्परमं पदम्' इति । पुराणानामपि तत्तत्कल्पानुसारित्वं मत्स्यपुराणे पुराणदानाध्याये उक्त्वा 'सात्त्विकेष्वथ कल्पेष्वि'त्यादि[3] पठितम् । तेन ज्ञायते यद्विष्णुमाहात्म्ययुक्तं पुराणं तत्सात्त्विकम् । तथैवाऽन्यत्तामसादिकम् । वामनपुराणे दशमाध्याये "देवानां परमो धर्मः सदा यज्ञादिकाः क्रियाः । स्वाध्यायो वेदवेत्तृत्वं विष्णुपूजारतिः स्मृता । दैत्यानां बाहुशालित्वं मात्सर्य्यं युद्धसत्क्रिया । वेदनं नीतिशास्त्राणां हरभक्तिरुदाहृता'[1]इति श्लोकद्वयेनोक्ताः[2] पूर्वोक्ता जीवाश्च त्रिविधाः सात्त्विकादिरूपेण पर्यवस्यन्ति । एवं सति सात्त्विकपुराणोक्तविष्ण्वाराधनात्सात्त्विककल्पे मुक्तिः । तथा 'मां च गिरिशम्' इति वाक्याच्छिवाराधनादपीति सिद्ध्यति । इयमेव व्यवस्था तन्त्रेऽपि, न्यायसाम्यात् । तत्र सात्त्विकानां सत्त्वनिवृत्तौ गुणातीतत्वशैघ्र्यान्मोक्ष इति तद्दाने विष्णोर्न श्रमः । भोगदाने तु दोषानुद्भवपूर्वकं शान्तस्वभावस्य[4] परिवर्त्तनीयत्वान्महान् श्रमः । तामसानां तु गुणत्रयप्रयुक्तभ्रान्तघोरविमूढत्वनिरासेन गुणातीतत्वसम्पादने शिवस्य महान् श्रमः । भोगदाने तु स्वभावपरिवर्त्तनस्याऽनपेक्षणान्न श्रमः । तस्मादेषा साधनापेक्षा नौदार्यस्य भञ्जिकेति साधनानामभावे योग्यताया अप्यभावे यद्दानं तेन च तस्य जीवस्योत्कर्षादिकमिति मूलरूपस्यैव धर्मो न त्ववतारधर्म इति न किञ्चिदनुपपन्नम् । एवं साधकदोषवशेन तद्दाने तयोः श्रमबाहुल्यं साधयित्वा तद्दोषनिवृत्तये यत्साधकस्य आवश्यकं तत्रत्यं शास्त्रान्तरीयं वा साधनं तदाहुर्दोषाभावायेत्यादि । दोषस्य दोषाणां वा अभावार्थं[5] निवृत्त्यर्थं सर्वदा कालाविच्छेदेन[6] श्रवणादि तन्नवकं[7] वा त्रिकं वा पञ्चकं वा यत्त-

१ "देवानां परमो धर्मो विष्णुपूजारतिः स्मृता । दैत्यानां बाहुशालित्वं हरभक्तिरुदाहृते"ति क. ग. घ. २ श्लोकद्वयेनोक्तामिति ख. ग. घ. ३ कल्पेष्विति ख. ४ शान्तस्वभावस्याऽपीति ख. ५ अभावाय, निवृत्तौ चतुर्थी, मशकेभ्यो धूप इतिवत्, निवृत्त्यर्थं. सर्वदेत्यादि क. ६ कालानवच्छेदेनेति ख. ७ तन्नवकं त्रिकं पञ्चकं वा यत्तत्रोक्तमित्यादि क. तन्नवकं वा तात्त्विकं वा पञ्चकं यत्तन्त्रोक्तमित्यादि ख. तत्रैकं वा त्रिकं वा पञ्चकं वा यत्तत्रोक्तं तत्कार्य्यमिति शेष इति घ.

त्रोक्तं शास्त्रान्तरोक्तं तत्तद्विषयकं तत्कार्यमिति शेषः । ततस्तस्मात्क्रियमाणाज्जातेन प्रेम्णा तच्छास्त्रीयपरविषयकेण स्नेहेन सर्वं कार्यं तदीयत्वतदाश्रयरूपं हि निश्चयेन सिद्ध्यति । तथाच निर्बन्धेनाऽविच्छेदेन श्रवणादिकरणात्साधकस्याऽपि श्रमबाहुल्यमित्यर्थः ।

एवं सामर्थ्यं साधनव्यवस्थां च बोधयित्वा तेन सिद्धमाहुर्मोक्ष इत्यादि ।

मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर्भोगश्च शिवतस्तथा ॥ १७ ॥
समर्पणेनाऽऽत्मनो हि तदीयत्वं भवेद्ध्रुवम् ।
अतदीयतया चाऽपि केवलश्चेत्समाश्रितः ॥ १८ ॥
तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित्समाऽऽचरेत् ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यमन्यथा ॥ १९ ॥

तुर्विशेषावधारणे । पूर्वोक्तोपपत्तिभिर्द्वितीयार्थे महाश्रमावधारणात् । मोक्षो विष्णोः सुलभः, शिवतो भोगश्च तथा सुलभ इत्यर्थः ॥ १७ ॥

अतः परं तदीयपदस्य सम्बन्धितद्धितान्तत्वेन तत्सम्बन्धिमात्रे योगात्साधकमात्रस्य तेन पदेन तुल्योपस्थितौ श्रवणादेः पूजादिकर्मणश्च तुल्यत्वमेवेति कथं कस्यचिदेवाऽतिप्रियत्वमित्याशङ्कायां तस्य पर्यवसितं विशेषमाहुः **समर्पणे** इत्यादि । हिः स्फुटार्थे । आत्मनः समर्पणे ध्रुवं तदीयत्वं भवेत् । एतदपि लोक एव स्फुटम् । मदीयानां मम च यथेष्टं विनियोगं प्रभुः करोत्विति बुद्धिर्ह्यात्मसमर्पणे कारणम् । तथा सति स्वसत्तालेशस्याऽप्यभावात्तन्निश्चितं भवति । तथाच साधनान्तरेण तदभावाच्छ्रवणादिकृतं तदीयत्वमात्मनिवेदित्वे पर्यवस्यतीति तस्यैवाऽतिप्रियत्वमिति तदर्थं श्रवणादिकमेव कार्यमित्यर्थः । नन्वेवं सति तदाश्रितस्य कथं फलसिद्धिः । तस्य स्वरक्षकत्वमात्रेण तदनुसन्धानात्तदीयत्वाभावेनाऽतिप्रियत्वाभावादित्याकाङ्क्षायां तदर्थं प्रणालीमाहुरतदीयेत्यादि । **अतदीयतया** उक्तरीतिकसमर्पणाभावेनाऽध्रुवत्वादतदीयतया केवलस्तदीयतारहितः **समाश्रितः** सम्यक्सर्वात्मना सर्वतो रक्षकत्वानुसन्धानवाँश्चेत्तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै उक्तरूपानुसन्धानोपयुक्ता या तदीयोऽहमिति बुद्धिस्तदर्थं किञ्चित्तदनुकूलं श्रवणादिकं **समाचरेत्** येन सा दृढा भवति ।

---

१ तत्तत्कार्यमिति क. २ तेन जातेनेति क. ३ तज्जातीयपरविषयकेणेति ख. ४ तदाश्रयत्वरूपमिति ग. ५ समर्पण इत्यादीति च्छेदेन सप्तम्यन्ततया सर्वत्र प्रतीकग्रहोपलब्धावपि तादृशयोजनाया अदर्शनाल्लेखकदोषमनुमाय 'समर्पणेनेत्यादि' इत्येव पठितव्यमिति भाति । ६ अत्राऽप्युक्तया दिशा समर्पणेति पाठः प्रतिभाति । ७ प्रनाडीमिति ख. ग. घ. ८ अतदीयोऽहमिति क.

तत्रापि स्वधर्ममनुतिष्ठन् वर्णाश्रमधर्मं कुर्वन् । तथाचाऽऽश्रितस्यैवं प्रणाल्या तदीयत्वदार्ढ्ये तस्याऽप्यतिप्रियत्वं भवतीति ततोऽपि तथेत्यर्थः । ननु तदीयत्वार्थं श्रवणादिकमेवाऽस्तु । वर्णाश्रमधर्मस्य साधारणस्य कुत्रोपयोग इत्याकाङ्क्षायामाहुर्वै भारेत्यादि । वै निश्चयेन । अन्यथा भारद्वैगुण्यं स्वधर्मानाचरणेऽधर्मकृतः स्वभावकृतश्चेत्येवं द्विगुणो भारो दोषः स्यात्तथा सति तदुद्धर्तुः श्रमोऽतिमहान् भवेत्तथा सति पापस्य प्रतिबन्धकत्वात्फलेऽपि विलम्बः स्यादिति तदभावार्थं धर्मोपयोग इत्यर्थः । तेन पाशुपतपञ्चरात्रयोर्यथातथज्ञानवतामपि तदुक्तसाधनेन यथायथं भोगमोक्षयोः सुलभत्वं मोक्षभोगयोस्तु दुर्लभत्वमिति शैवतन्त्रं परम्परया मोक्षाय वैष्णवं साक्षान्मोक्षायेति फलतौल्येऽपि साधनतस्तारतम्यमिति सिद्धम् । द्वितीयस्कन्धे–"एतावान्साङ्ख्ययोगाभ्यामि"त्यस्य सुबोधिन्यामेतदेव निरूपितम् । पञ्च सिद्धान्ताः स्वतन्त्रतया विहिताः । तत्र श्रुतिवैष्णवौ समप्रधानत्वेनोक्तौ । पशुपतिमतस्य कल्पभेदेन तामसपरत्वेनोत्कर्षजननद्वारा परम्परया यथायथमुपयोगः क्रममुक्तिहेतुत्वेन वेति । साङ्ख्ययोगयोः स्वतन्त्रतया ब्रह्ममीमांसायां निन्दितत्वात्स्मरणशेषत्वं धर्मशास्त्रस्य चेत्यपि तत्रैव प्रतिपादितम् । एवञ्चाऽत्राऽयं निष्कर्षः । लौकिकेषु मोक्षशास्त्रेषु वैष्णवतन्त्रमुत्कृष्टम् । तदपि "योगास्त्रयो मया प्रोक्ता" इत्युक्तयोगत्रयमध्ये कर्मयोगरूपम् । एकादशे सप्तविंशे "क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो" इति प्रश्ने "वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः । त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेदि"ति कथनात् । योगेश्वरवाक्येऽपि "य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः । विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवमि"ति कथनात् । तन्त्रोक्ता भक्तिस्तु तस्यैवाऽङ्गभूता । अत एव "तया मुक्तिर्न चाऽन्यथे"त्यनेन मुक्तिरेव तत्फलत्वेनोक्ता । "न चाऽन्यथे"त्यनेन केवलकर्मयोगान्न मुक्तिरित्यपि सूचितम् । तेन तान्त्रिकमात्मसमर्पणादिकमपि तदुक्तभोगमोक्षपर्यवसाय्येव न तु पुरुषोत्तमसम्बन्धि सिद्ध्यति । भक्तियोगस्तु ततो भिन्न एव । अत एव "भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रियमाणाय तेऽनघ । पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परमि"त्युपक्रम्य 'श्रद्धाऽमृतकथायां मे' इत्यादिना कारणकथनावसरे "वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षे"ति कथनात् क्रियायोगाध्याये च "मामेव नैरपक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति । भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत मामि"ति कथनात् भक्तियोगस्तस्य फलभूतः । भगवांश्च "पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यये"ति गीतावाक्यादनन्यभक्तिलभ्यः । भक्तेश्च कारणं पूर्वमु-

---

१ इत्याशङ्कायामिति क. ख. घ. २ साधनतारतम्यमिति ख.

क्तमेव। "पुनश्चे"ति वाक्ये परमिति विशेषणात्। एतेषाञ्च परत्वमात्मनिवेदनान्तरत्व एव। "एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवाऽऽत्मनिवेदिनाम्। मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्याऽवशिष्यते" इत्युपसंहारे तस्याऽधिकारिविशेषेणत्वेन कथनात्। तथा तदुपयोगी शरणागत्यात्मा आश्रयोऽपि भिन्न एव। "अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन। सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत्सखे"त्युपक्रम्य "न रोधयति मां योग" इत्यादिना स्मार्त्तश्रौतयावन्निषेधपूर्वकं सत्सङ्गस्य केवलभावस्य च यथायथं स्वावरोधकत्वं स्वप्राप्तिसाधनत्वं चोक्त्वा व्रजभक्तनिदर्शनमप्युक्त्वा "तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्ये"ति द्वाभ्यां सर्वात्मना शरणगमनस्याऽकुतोभयप्राप्तिसाधनत्वकथनात्। अनेन सन्दर्भेण साधनफलयोरुत्कर्षोऽपि सिद्धः । श्रुतेरप्याशयोऽयमेव । "नाऽयमात्मा प्रवचनेने"ति "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येने"ति श्रुतिस्मृतिभ्यां तथाऽवसायात्। तदिदं सुबोधिनीनिबन्धभाष्येषु निपुणतरमुपपादितमत्र मङ्गलवाक्ये सूचितम्। वेदे पूर्वकाण्ड उत्तरकाण्डे च त्रिवर्गो य उक्तस्तस्य तात्पर्यमेकादशे एकविंशाध्याये "फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम्। श्रेयोविवक्षया प्रोक्ता यथा भैषज्यरोचनम्। उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च। आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु। न तानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि। कथं युञ्ज्यात्पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः। एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः। फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि। कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः। अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते" इत्यन्तेन पञ्चाग्न्युपासनान्तस्य साधनजातस्य यत्त्रिवर्गरूपं फलं तत्पुष्परूपं रोचनार्थं इत्युक्तम्। मोक्षो य आत्मलाभात्मा उक्तस्तत्राऽप्यात्मशब्दो भगवत्पर एव। अभेदवादस्वारस्यात्। तल्लाभसाधनं चाऽऽपाततः श्रवणादित्रयम्। वस्तुतस्तु वरणमेव, "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"इति श्रुतेः। तेन य आद्ये प्रवृत्तस्तस्य दुःखाभाव एव। यः पुनस्तन्न साधनाधीनमिति ज्ञात्वा यतते तस्य साधनकौण्ठ्ये वरणश्रुतिर्वरणस्य दीनत्वमेव साधनं सूचयतीति भक्तावेव पर्यवस्यतीति 'वेदादाद्या यतः स्थिता"इत्यनेन सूचितम्। शेषनिर्णयस्तु स्फुटतयाऽत्र प्रतिपादित एव।

तदिदं सर्वं हृदिकृत्योपसंहरन्ति, इतीत्यादि।

इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः ॥ १९½ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितो बालबोधः सम्पूर्णः।

इतिः समाप्तौ। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण कथितं यत् तत्सर्वं स्वस्य परेषां च

सिद्धान्तसङ्ग्रहरूपं निष्कृष्टं न तु प्रतीकरूपम् । एतज्ज्ञाने पुनः पुमर्थादिविषयको भ्रमोऽन्यथाज्ञानं न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥ १९ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जकृपाश्रयात् ।
बालबोधस्य विवृतिं चक्रवान्पुरुषोत्तमः ॥ १ ॥

यदत्र सदसद्वाऽपि जीवबुद्ध्या मयोदितम् ।
तत् क्षमन्तां बालबोधे प्रवृत्ताः प्रभवो मम ॥ २ ॥

इति श्रीमदाचार्यचरणशरणस्य श्रीपीताम्बरसूनोः पुरुषोत्तमस्य
कृतिर्बालबोधविवृतिः
समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्भगवद्वदनावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रणीतः

बालबोधः ।

श्रीद्वारकेश्वरचरणविरचिता बालबोधटीका ।

यत्पादमूलमुपसृत्य विशन्ति शश्वद्वृन्दावनद्रुमलताभुजपूजिताङ्घ्रिम् ।
सोऽयं समस्तजगतामभिवन्दनीयपादाम्बुजः सकरुणः प्रियमातनोतु ॥ १ ॥

इह खलु लोके श्रुतिस्मृतिवात्स्यायनपुराणपञ्चरात्राद्युक्तधर्मपरिकरबोधकवाक्यनिःप्रतिपाद्यानां धर्मार्थकाममोक्षाणां विद्यमानत्वेनाभिधानभ्रमेण जीवसम्बन्धीयेष्वेवाल्पकत्वाद्भक्तिमार्गीयैकयोग्यास्तेषु यतिष्यन्त इति तेषां विवेचनं शास्त्ररूपेण वदन्तो मङ्गलमाचरन्ति नत्वेति ।

नत्वा हरिं सदानंदं सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहम् ।
बालप्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम् ॥ १ ॥

हरिं सदानन्दं नत्वा सर्वसिद्धान्तानामप्रबुद्धानां प्रकर्षेण बोधाय सुष्ठु विशेषेण निश्चितं सङ्ग्रहं वदामीति सम्बन्धः। एतच्छास्त्रानुसारेण भजतां प्रतिबन्धनिराकरणपूर्वकं स्वानन्दं कृपया तेभ्यः प्रयच्छतीति नामद्वयकथनम् । तादृशे तु जीवैरेतावत्सदुपशिक्षितं 'नमो नम' इति न्यायेन नमनमेव कर्त्तव्यम् । 'किमासनन्त' इत्यादिना, नाधिकं कर्त्तुं शक्यमिति सिद्धान्तः । एवं परंपराकरणार्थं ग्रन्थादौ तन्निबन्धनम्। सर्वशब्देनात्र प्राकरणीकत्वात्प्रमाणत्वावच्छिन्नानां तत्तत्प्रमेयप्रमापकानां ग्रहणम्, तेषामशेषतो निरूपणे ग्रन्थबाहुल्यं बुद्धिक्षोभस्तेनैव वा कालनयनं भवेदिति तदर्थं तत्तच्छास्त्रेषु निर्गलितार्थरूपा ये सिद्धान्तास्तेषां सङ्ग्रहो राशिवदेकीकरणम् । यथा रत्नादिस्वरूपज्ञास्तत्स्वरूपमन्येभ्यो विवेचयितुं परीक्षकेभ्यो दर्शयितुंताननेकजातीयाननेकान् राशीभूतान् कुर्वन्ति, तथा कुर्वन्तु । एवमेव सिद्धान्तानां सङ्ग्रहपूर्वकं

वदनम् । ननु किमित्येतावान्प्रयासः क्रियते, तत्राहुर्बालेति, बालास्तत्तद्वस्तुस्वरूपज्ञानरहिताः, तेषां प्रकर्षेण बोधनार्थं फलपर्यन्तं सिद्धान्तानां स्वरूपनिर्द्धारार्थम्, बालप्रबोधनमेवार्थः प्रयोजनम्, बालाः स्वहिताहितज्ञानरहिताः, तादृशास्तु सर्वेषां दयापात्राणि भवन्ति । अतस्तदर्थे तथाकरणं युक्तम् । तथापि, स्वतो विचाररहितानामविचारितेन प्रबोधने अनाप्तत्वं स्यादिति, तत्राहुः सुविनिश्चितमिति । सुष्ठु विशेषेण निश्चितं निःसन्दिग्धमित्यर्थः । यद्वा, सुष्ठु तद्विशेषेण निश्चितम् ॥ १ ॥

एवं नत्वा प्रस्तुतमाहुः, धर्मेति ।

धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्था मनीषिणाम् ।
जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ॥ २ ॥

विहितक्रियाफलप्राप्ताववान्तरव्यापारो यः स धर्मः । कामनासहितः स एव सुखं साधयति । तद्रहितो 'धर्मेण पापमपनुदती'त्यादिना 'जन्मान्तरसहस्रेष्वि'त्यादिना च शुद्धिद्वारा भगवदिच्छाप्राप्यं ज्ञानं भक्तिं वा साधयतीति सर्वथोपादेयः । एवमेव द्यूतचौर्यादिनानुपत्या(?)तत्साक्षात्तत्साधनसाधनेनापि द्वितीयोऽप्यवश्यमपेक्षितः (अर्थः) । यथा प्रथमे तथा तृतीयेपि तस्योपयोगः । यद्यपि तत्र उत्पादनप्रकारानियमेपि पूर्वोक्तप्रकारेणेत्यादितश्चाव्यग्रतया तृतीयसाधनं भवतीति तथा तृतीयोपि । तथैव सर्वेषां प्रजननहेतुः 'प्रजातिरमृतमानन्द' इत्युपस्थ इत्याद्युक्तरूपं स तु सर्वेषां सर्वथैवापेक्षितः । एवं त्रिवर्गकामा बहवः प्रायेण भवन्ति, मुमुक्षवस्तु स्तोकजरा भवन्ति । तत्तत्पुरुषार्थस्वरूपाभिज्ञा बहुधा प्रत्येकसमुदायाभ्यां तेषु तेषु प्रवर्त्तन्ते । अत एव मनीषिणामित्युक्तम् । मनीषा यथार्थविषयग्रहणसमर्था बुद्धिः । तद्वतामेव तत्प्रयोजनम्, अनया हीनः पशुतुल्य एव । न हि ते चतुर्षु केष्वपि यतन्ते । ते तु द्विविधाः, लौकिकालौकिकभेदेन । जीवा ऋषयः परिच्छिन्नमतयो वा । ईश्वरो वेदः सर्वनिर्द्धारयिता । ईश्वरत्वेन वेदोद्देशो गोपनार्थः, ताभ्यां कृतो विचारः स्वस्वाधिकारानुसारेण वस्तुनिर्द्धारको भवति । विचारस्तु, अनुपपत्तिनिराकरणपूर्वकं उपपत्तिभिर्मनसा वस्तुनोऽनुसन्धानम् । महतां मनोपि महदेव भवतीति तादृशमेव वस्तु तेषां मनसि निर्द्धारितं भवतीति तेन तैस्तथैव निर्द्धारितम् । जीवास्तदपेक्षया सर्वथा क्षुद्राः परिच्छिन्नधियश्च । अत ईश्वरविचारितादेतद्विचारितस्य भेदस्तात्विक एव । अत एव हीत्यव्ययम् ॥ २ ॥

उद्देशतस्तानुक्त्वा विविच्य तानेव निरूपयन्ति अलौकिक इति ।

अलौकिकास्तु वेदोक्ताः साध्यसाधनसयुताः ।
लौकिका ऋषिभिः प्रोक्तास्तथैवेश्वरशिक्षया ॥ ३ ॥

अलौकिकः पुरुषोत्तमः, तत्सम्बन्धिनस्ते तु वेदेनैव निरूपयितुं शक्याः । तस्यैवानुभवविषयत्वात्तेषाम् साध्यानि अवान्तरफलरूपाणि । साधनानि पुरुषार्थस्वरूपसिद्ध्यै अव्यभिचारितया कारणानि । मुख्यफलरूपास्तु स्वयमेव भवन्तीति वेदेन उक्ताः साधनैः सहिता ये साध्याः । सूत्रोक्तानां साध्यसाधनानां परस्परमव्यभिचारेण हेतुहेतुमद्भाव इति ज्ञापनार्थं सम्यग्योगो निरूपितः । एवं सपरिकराणामलौकिकानां निरूपणप्रकारमुक्त्वा शिष्टानामाहुर्लौकिका ऋषिभिः प्रोक्ता इति । ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः, तैः स्वज्ञानानुसारेण प्रकर्षेण उक्ताः । ननु न हि ते वेदाद्यसंमत्या स्वतन्त्रतया पुरुषार्थद्रष्टारो वक्तारो वा भवन्ति । तथा सत्यलौकिकानां तेषां तेनैव निरूपणस्य सिद्धत्वात्किमिति वेदाद्यनुक्तानां तेषामप्रामाणिकानां निरूपणं तैः क्रियते इति तत्राहुः, तथैवेश्वरशिक्षयेति । वेदस्तु लौकिकालौकिकेषु नियन्ता, अत एवेश्वरः, तच्छिक्षया तथाविधानां कथनम् । ऋषीणां तु वेदेनैव सर्वज्ञत्वं ऋषित्वं च प्राप्तानां लौकिकैकपुरुषार्थप्रवर्त्तनयोग्यत्वात्तथाविधतत्प्रवर्त्तनं वेदस्यापि सम्मतमिति योगजधर्मेण वेदार्थविचारे तथाभूता एव ते स्फुरद्रूपा जाता इति तथैवोक्तवन्तः । अत एव प्रोक्ता इति निरूपितम् ॥ ३ ॥

ननु जीवविचारितेभ्यस्तेभ्य ईश्वरविचारितानां तेषामुत्तमत्वात्त एव किमिति नोच्यन्ते तत्राहुः—लौकिकाँस्त्विति ।

लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदादाद्या यतः स्थिताः ।
धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात् ॥ ४ ॥

तुशब्दः पूर्वविधाद्व्यावर्तयति । तथापि, ऋषिभिस्ते निरूपिता एव किं भवदुक्त्येति चेन्, न । प्रवक्ष्यामीति प्रकर्षेण वक्ष्यामि । ऋषिभिर्निरूपिताः, परं नालौकिकेभ्यो विविच्य, अहं तु तेभ्यो विविच्य स्वरूपतः फलतः स्थूणाखननन्यायेन लौकिकान्वक्ष्यामि । तथापि, सामान्येभ्यो विशिष्टा एव कथं नोच्यन्ते ? तत्राहु र्वेदादाद्या इति । यतो वेदादाद्या अलौकिका वेदस्वरूपाभिज्ञैस्तद्वाक्यैरेव तदाशयविचारे निर्गलितार्थरूपाः । तथाधिकारिप्राप्तिविषयत्वेन विचारकाणां मनसि स्फुरद्रूपतया स्थिताः । अन्येषां सामान्यतस्तत्स्वरूपस्थितिज्ञानं समाहृत्य सर्वनिरूपणे वाक्यशेषोक्तन्यायेन स्वत एव लौकिकेभ्यो भिन्नतया तद्भवतीति मुख्यान्विहाय गौणानेव कोटिद्वयभेदेन निरूपयन्ति । तत्र त्रयाणामेका कोटिः । तुरीयस्यैका, पूर्वकोटिप्रतिपादकानाहुः । धर्माः शारीराः, तत्प्रतिपादकानि शास्त्राणि । अर्थस्तूभयत्र हेतुः, तत्प्रतिपादकं नीतिशास्त्रम् । कामस्तु वात्स्यायनोक्तप्रकारतः, तत्प्रतिपादकं तु तदुक्तमेव शास्त्रम् ॥ ४ ॥

तदेवाहुस्त्रिवर्गेति ।

त्रिवर्गसाधकानीति न तन्निर्णय उच्यते ।
मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परतः स्वतः ॥ ५ ॥
द्विधा द्वे द्वे स्वतस्तत्र सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ ।
त्यागात्यागविभागेन सांख्ये त्यागः प्रकीर्तितः ॥ ६ ॥

एतानि त्रिवर्गसाधनानि इति कार्यतः कारणतः फलतः स्वरूपतस्तन्निरूपणे उच्यन्त इति तत्प्रतिपादकानि, नाहं वदामीति । द्वितीयकोटिसाधनान्याहुर्मोक्षे चत्वारीति। चत्वारि शास्त्राणि लौकिकमोक्षप्रतिपादकानीत्यर्थः । योगः साङ्ख्यम् । तत्तच्छक्तिमत्त्वेन विष्णुशिवप्रतिपादके द्वे। एवञ्चतुर्द्धा वैष्णवे शैवे वा तेषां, कोटिभेदेन निरूपणम् । द्वाभ्यामेकाकोटिस्तथैव चापरा । एकस्या द्विरूपत्वं त्यागा त्यागभेदेन । एका स्वतः स्वकृतिसाध्यतया । अपरा परतः मोचककृतिसाध्यतया । अतः कोटिद्वयम् । द्विधासती मुक्तिहेतू आहुः साङ्ख्ययोगाविति । तत्र मोक्षप्रतिपादकसमये स्वतो मोक्षप्रतिपादकौ साङ्ख्ययोगौ प्रकर्षेण कीर्त्तितौ । पूर्वकोटिद्वित्वे हेतुमाहुस्त्यागात्यागेति। साङ्ख्ये त्यागो बाह्याभ्यन्तरभेदेन। योगे त्वान्तर एव। त्यागस्तु संसारनाशद्वारा पुनर्भवनसहिताहङ्कारध्वंसजनने उपक्षीणः ॥ ५ ॥ ६ ॥

अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ ।
स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥ ७ ॥
तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता ।
ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमबाह्यतः ॥ ८ ॥

एवं सर्वथाऽहङ्काराभावे यदा जीवः स्वमूलभूते अक्षरात्मके ब्रह्मणि उद्भूतत्रितयांशोभूत्वा स्थितो भवति, तदा स जीवः कृतः अर्थः पुरुषार्थो येन, तादृशः स निगद्यते। तथैव च निबन्धे, 'संसारस्य लयोऽपुनरावृत्तिः, मुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिचिदि'ति। श्रुतिः स्मृतिश्च, 'न स पुनरावर्त्तते यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते' इत्यादिनोक्तरूपाऽपुनरावृत्तिश्च तस्य, ततोप्यधिकभजनानन्ददानोन्मुखभगवदधीना, मुक्तोपसृप्यव्यपदेशादिवत् । एवं प्रकारकमोक्षे प्रकारान्तरीयसाधनघटना पुराणेपि निरूपिता । ऋषिभिरपि स्वस्वप्रकृत्यनुसारेण चरमार्थप्रतिपादकत्वेन विविधसाधनकदम्बाः प्रतिपादिताः । तेषां सर्वेषां फलमेकमेव । यथा रात्रि(?)न्यायेन अक्षर एव । तत्र हेतुः, अबाह्यतः एतत्साध्यैकसाधनजातीयैकपरत्वतः ॥ ७ ॥ ८ ॥

पूर्वकोटिद्वितीयपक्षमाहुरत्याग इति।

अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि।
यमादयस्तु कर्त्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता॥ ९॥

त्यागाभावे तु योग एव फलसाधकः। सर्वथा अत्यागे योगोऽपि न सिद्ध्येत्। अतो मानसमिति विद्वांस इत्यादिना मानस एव सः। तादृशस्यैव तस्य सात्त्विकत्वात्। योगाः बहुविधाः सबीजनिर्बीजभेदेन। तत्र विविधप्रकारकाणां मध्ये एक एव योगस्तत्स्वरूपाभिज्ञैरादृतः, आत्मबोधकत्वात्। निर्बीजेपि यस्मिन् भगवतो ध्यानं स एव योग आत्मबोधको भवति, स्थूले भगवतो रूप इत्यादिनोक्तत्वात्। तत्र योगसिद्ध्यर्थं यमादयस्तु कर्त्तव्याः, ततः सिद्धे योगे योगसिद्धिं प्राप्य मुक्तिं ते प्राप्नुवन्ति। ततस्ते कृतार्था इत्युच्यन्ते॥ ९॥

द्वितीयकोटिमाहुः, एवं स्वतो मुक्तिप्रकारमुक्त्वा परतोप्याहुः परेति।

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते।
ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस्तद्रूपेण सुसेव्यते॥ १०॥

मोक्षे ये मोचकास्तेषामाश्रयेण मोक्षोऽवश्यं भवत्येव। सोपि द्विविधः, सगुण-निर्गुणभेदेन, सात्विकतामसाभ्यां वा। ननु यथा विष्णुशिवौ पालकनाशकौ तथा ब्रह्मा सर्जकः। कथमयं स्वतन्त्रतया मुक्तिं न प्रयच्छतीत्यत आहुर्ब्राह्मणतां यात इति। ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा ब्राह्मणता। ब्रह्म नयति प्रापयतीति तथा। भगवतः सकाशाद्वेदाध्ययनं तेनैव कृतमिति वैदिकेषु च स एव मुख्यः तत्कर्मनिष्णातेषु च। अत एव ब्राह्मणानामपि विध्युक्तप्रकारकर्मानुष्ठातॄणाम्, महोपनिषज्ज्ञानवतामपि जरामर्याग्निहोत्रं कुर्वतामवभृथानन्तरं ब्रह्मसायुज्यं ततस्तन्मुक्त्यवसरे तत्सायुज्यं प्राप्तानां तेनैव सार्द्धं मुक्तिर्भवति। तदुक्तं तैत्तिरीयोपनिषत्सु, 'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्ये'त्यारभ्य एतौ वै सूर्याचन्द्रमसोर्महिमानौ ब्राह्मणो विद्वानभिजयति, तस्माद्ब्रह्मणे महिमानमाप्नोति, तस्माद्ब्रह्मणे महिमानम्'इत्यन्तेन। यथा ब्रह्मा, तथैव शिवो विष्णुश्च गुणाभिष्ठातारो देवाः, त्रयाणामपि साम्यम्। एका सर्जिका, अपरा पालिका तृतीया संहारिका। एतादृशस्यापि ब्रह्मणो भगवद्रूपत्वेनैव भजनमिष्टसाधनम्, नतु ब्रह्मत्वेन। सरस्वत्याः शापाज्जीवसहकृतेश्वरांशत्वाच्च, स्वतन्त्रतया भजनीयत्वस्यापगमात्॥ १०॥

ते सर्वार्था न चाऽऽद्येन शास्त्रं किञ्चिदुदीरितम्।
अतः शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ॥ ११॥

ये एवं भजनकर्त्तारः ते सर्वार्थाः, सर्वोऽप्यर्थो येषां तादृशाः । न चान्येन, ब्रह्मत्वेन भजतामेवं सर्वार्थसिद्धिर्न भवतीत्यर्थः । ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातो, यो ब्रह्मा, सृष्टिकर्तृत्वात्, सृष्ट्यादिकर्तृत्वं हि भगवद्धर्मः, सृष्टिकर्तृत्वेन रूपेण तं ये (ब्रह्माणं) सेवन्ते तेषां मोक्षातिरिक्तसर्वार्थसिद्धिर्भवतीति राजसत्वात् न मोक्षसाधकत्वम् । तत्र प्रमाणम्, शास्त्रमेतदर्थप्रतिपादनेन किञ्चिदुदीरितम् । यतः सर्जकत्वात् वैखानसोक्तपूजाप्रतिपादकत्वात्परमेष्ठित्वादवतारादिवार्त्तासूचकत्वात् सर्वोपकारकत्वं ब्रह्मणः । तथा भजनीयता च ॥ ११ ॥

अतः विष्णुशिवयोरपि भजनीयत्वार्थं लोकोपकारकत्वं वदन्ति वस्तुन इति ।

वस्तुनः स्थितिसंहारौ कार्यौ शास्त्रप्रवर्त्तकौ ।
ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ ॥ १२ ॥

स्थितिसंहारौ मूलेच्छाधीनौ, यादृशी यदा मूलेच्छा तदा तादृशः कालोपि भवति । तथैव मोहकशास्त्रप्रवर्त्तकत्वं शिवकणादगौतमादेः । बुद्धस्य ऋषभस्य च चरित्रादिना लोकव्यामोहः । एवं शास्त्रच्छलैर्मोहितानामुत्पथगामिनां तद्वासनानिवृत्त्यर्थं संहार एव तेषां हितकारकः । एवं शिवस्य लोकोपकारकत्वम् । स्थितिश्च सत्त्वाधीना, तदधिष्ठाता विष्णुः, सात्विककालशास्त्रादिप्रवर्त्तकः । एवं विष्णोर्जगद्धितकर्तृत्वं स्पष्टम् । स्थितिसंहाररूपे कार्ये ब्रह्मैव समर्थं भवति, तस्मादुभयविधकार्यैकर्तृत्वशक्तिमत्वादुभयोर्ब्रह्मत्वम् । यथा आराग्रमात्रस्य जीवस्य व्यापकत्वश्रुतिर्भगवदात्मकत्वेन युज्यते, एवमेतौ सर्वात्मकतया ब्रह्मत्वेन रूपेण श्रुतौ उदितौ । तथाहि, 'विश्वं भूतभुवनं चित्रं बहुधा जायमानं च यत्, सर्वो ह्येष रुद्रः तस्मै रुद्राय नमोऽस्तु । 'यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेपि वा अन्तर्बहिश्च, तत्सर्वं व्याप्य नारायण स्थितः' इत्यादिभिरुभयोस्तथात्वम् । न हि श्रुतयो ब्रह्मातिरिक्तं किञ्चित्स्तुवन्ति, अलौकिकार्थवक्तृत्वात् । श्रुतौ देवतायाः स्तुतिर्ब्रह्मात्मकत्वेन रूपेण, न स्वतन्त्रतया । किञ्च, तामसादिकल्पेषु तामससृष्टे रुद्रः कर्त्ता, पालयिता, संहारकश्च । न हि ब्रह्मणः पालकसंहारकशक्तिमत्त्वं, केवलं सर्जकत्वमेव । विष्णुशिवयोर्विविधशक्तिमत्त्वं श्रुतिसिद्धम् । परं कल्पभेदेन विजातीयसर्जकत्वेन । सात्विकसर्जकत्वं सत्वाधिष्ठातुः । तामससर्जकत्वं तमोधिष्ठातुरिति ॥ १२ ॥

एवं सृष्टिकर्तृत्वेन जगदात्मकत्वेन च निरूप्य प्रकारान्तरेण च तन्निरूपयन्ति निर्दोषेति ।

निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता ।
भोगमोक्षफले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि ॥ १३ ॥
भोगः शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चयः ।
लोकेऽपि यत्प्रभुर्भुङ्क्ते तन्न यच्छति कर्हिचित् ॥ १४ ॥

सात्त्विकतामसादिषु शास्त्रेषु निर्दोषपूर्णगुणता परमकाष्ठापन्नवस्तुरूपत्वं विष्णुशिवयोरेव प्रतिपादितम् । यत इमौ परमकाष्ठात्वं प्राप्तौ । अतः द्वावपि भोग-मोक्षफले दातुं शक्तौ । भोगः विषयैरिन्द्रियतर्पणम्, मोक्षः सवासनसङ्घातलयः । एतदुभयं सविशेषं दातुमुभावपि समर्थौ यद्यपि, तथापि भोगः शिवेनैव, मोक्षो विष्णुनैवेति निश्चयः । एवं व्यवस्थायां दृष्टान्तत्वेन हेतुमाहुर्लोक इति । लोके ह्येतादृशी व्यवस्था सर्ववादिसिद्धा । यत्प्रभुणा भुज्यते तन्नान्यस्मै कस्मा अपि दीयते, अयोग्यत्वात् । शिवेन समाधौ मोक्षरूपः परमानन्दानुभवः क्रियते, तेन तदनुभावज्ञत्वात् सर्वस्वं दुर्लभमिति मत्वा भगवद्विमुखां ज्ञात्वा 'पत्नी हि सर्वस्य मित्रम्' इति श्रुत्या सर्वात्मना मित्रत्वमापन्नाया अपि यत्र न प्रयच्छति, तत्रान्यस्मै न प्रयच्छतीति किं वाच्यम्? । ये त्वेतद्दानेऽयोग्यास्तेषां तद्दानं ज्वरितस्या न्नदानमिव नाशजनकं भवति न तु योग्यानाम् । तदग्रे वक्ष्यामः । विष्णुरपि श्रियं भुङ्क्ते । तेन न स्वभोग्यामन्यस्मै असमानाय प्रयच्छति । यतो योग्यानामनुग्रहैकस्वभावः । भजतां लक्ष्म्यादिदाने मत्ताः सन्तः प्रच्युता भविष्यन्तीति मुक्तिप्रतिबन्धिकां स्वानु-सन्धानप्रतिबन्धिकां श्रियं प्रत्युत हरति, न तु प्रयच्छति । किञ्च, यथा निःकामं शिवं भजतामेवाल्पप्रसाद्यः शिवः प्रसन्नो भूत्वा ब्रह्मविद्यादानपूर्वकं वैष्णवधर्मोपदेश-पूर्वकं वा मुक्तिं प्रयच्छति, न तथा सकामानाम् । ते यथावत् काम्यं प्राप्य भगवतः प्रच्युता भवन्ति । यतस्ते कृतपुण्यपुञ्जाः । भगवतापि तथैव सकामानां ते यथावत्काम्यं प्राप्य तथैवोक्तं 'चतुर्विधा' इत्यादिना । सकाममपि भगवद्भजनं कर्त्तारः काम्यं भुक्त्वापि भगवद्भजनमाहात्म्याज्जन्मान्तरेपि तथा संस्कारवन्तो भगवदिच्छां प्राप्य यदा ते निःकामा भूत्वा भगवन्तं भजन्ति, तदा कृतार्था भवन्ति । न त्वेवं शैवाः ॥ १४ ॥

एवं विष्णुशिवयोः भजतां प्रत्येकं सर्वथा भोगमोक्षाप्रदाने दानशक्तिरपगता भविष्यतीत्याशङ्क्य पक्षान्तरमाहुः अत इति ।

अतः प्रियाय तदपि दीयते क्वचिदेव हि ।
नियतार्थप्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रयः ॥ १५ ॥

प्रत्येकं साधनश्चैतद् द्वितीयार्थे महाञ्छूमः ।
जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा ॥ १६ ॥
श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति ।
मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर्भोगश्च शिवत तथा ॥ १७ ॥
समर्पणेनाऽऽत्मनो हि तदीयत्वं भवेद्ध्रुवम् ।
अतदीयतया चाऽपि केवलश्चेत्समाश्रितः ॥ १८ ॥

उभयथा भजनस्य 'अकामः सर्वकामो वा'इत्यादिना विहितत्वात् । यत एतद्-दाने उभयविधापि दानशक्तिरुभयेभ्योप्यपगच्छति । अतः क्वचित्तदपि दीयते । अधिकारिणमाहुः प्रियायेति । तादृशेभ्योऽपि क्वचिदेव दीयते । यथा प्रियव्रता-म्बरीषादीनां प्रियेभ्यो भगवद्भक्तवत्सलत्वात् स्वभोग्यमपि ददाति । तदपि क्वचि-देव । यत्र दाने सम्प्रदानानाशः, अप्रच्युतिश्च भवति, तत्रैव दीयते । अत एवकारः । उद्धरणैकस्वभावस्य नियतार्थप्रदानं युक्तमित्याहुर्हीति । ननु प्रियेभ्योपि नियतार्थ-दाने सकृद्दाने दातुरशक्तिः कार्पण्यं भवेदिति चेत्, न, नियतार्थप्रदानेन चित्त-विक्षेपाभावात्तदीयत्वं तदाश्रयश्च भवति, तेन नासुरभावप्रदेशः स्यादिति भावः । 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इति तेनैव तेषां कार्यसिद्धिः । केवलं तदीय-त्वेन तदधीनतया, स्थितौ मुक्तिं दत्त्वा ततः संसारादुद्धृत्य भजनानन्दानुकूलं देहं दत्त्वा, तदपि ददाति । मुक्तोद्धारस्तु मूलेच्छाधीनोऽशक्यश्चेति सोऽप्यशक्येऽर्थे भवति, भारदानमाश्रयः । एवं प्रत्येकं साधनभूते द्वे । तत्रैकं सुसाध्यमपरं कष्टसाध्यं चेति । तत्र हेतुर्जीवा इति । स्वभावतस्ते दुष्टाः, यद्यपि तथाभूतानां निवेदनमप्यशक्यम्, तथापि, तद्दोषयुक्तस्यात्मनिवेदने शक्तिरेव न भवेत् । (निवदने) क्रियमाणे ते दोषा अपि निवेदिताः स्युः । ततस्तेषामप्यपगमश्च स्यात् । द्वितीये तु दोषे विद्यमाने आश्रयसिद्धिरेव न भवेत्, दोषाणां चित्तविक्षेपजनकत्वात् । तस्मिन् सति भगवदनु-सन्धानाभावादाश्रयासिद्धेः । तस्मादात्मनिवेदनतस्तद्दोषनिवर्त्तनद्वाराऽऽश्रयसाधकं श्रव-णादि नवकं कर्त्तव्यम् । एतदेवोक्तं मातरं प्रति कपिलेन । 'यथा यथात्मा परिमृज्यते' इति । एवं कृते प्रेमैव भवति, नासक्तिव्यसने । अत एव प्रेम्णेत्येकवचनम्, तेन तेषामाश्रयः, तत्साध्यं च सर्वमेव कार्यं (आसक्तिव्यसनादिकं च) सिद्ध्यति । (विष्णुशिवयोः) उभयत्रैषा व्यवस्था । तत्तच्छास्त्रे तयोर्निर्दोषपूर्णगुणत्वनिरूपणात् । मुमुक्षूणां विष्णुविषयत्वेनैवंकरणमल्पेनैव फलं साधयति । भोगार्थिनां रुद्रविषयक-मेवं करणमपि तथैव । एवमेकधा भोगमोक्षसाधनसिद्धिमुक्त्वा प्रकारान्तरेण तन्नि-

रूपयन्ति, 'यथेष्टमुपयोगः कर्त्तव्यः' इति बुद्ध्या आत्मना सह स्वसर्वस्वनिवेदने कृते सति तदीयत्वं भगवदीयत्वं तन्निवेदनेनैव भवतीत्यर्थः । ननु तदीयत्वसहितस्याश्रयस्य मुक्तिसाधकत्वं केवलस्य वा । नाद्यः, मानाभावात् । न द्वितीयः, तदीयत्वसाध्य(फल)स्याश्रयासाध्यत्वादिति चेत् तत्राहुरतदीयतयेति । यथा तदीयत्वं स्वतन्त्रतया मुक्तिसाधकम् , तथाश्रयश्च । तदाह केवल इति । तदीयत्वव्यतिरिक्तः सम्यक्कृताश्रयः । तथापि कार्यं भवत्येव । तदाश्रितोऽहं तदीयोऽहमिति बुद्ध्या भगवदीयानामुत्पथगामित्वे मार्गे अपवादो मा भवत्विति विचार्य बहुधा करणसामर्थ्येऽपि किञ्चित्सत्कर्माचरणं कुर्यादित्यर्थः ॥ १८ ॥

तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित्समाचरेत् ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन् वै भारद्वैगुण्यमन्यथा ॥
इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः ॥ १९½ ॥

समाप्तो मूलग्रन्थः

यद्वा, निवेदनान्तरमाश्रयानन्तरं वा यदनुष्ठेयं स धर्मः । तेन स्वधर्मापगमभिया तदनुकूलमेव सत्कर्माचरणीयम् । अत एव, किञ्चिद्युक्तम्, तदुक्तं भगवता, 'यावानर्थ उदपाने'इति । अथवा विष्ण्वाश्रितोहं वैष्णवोहमितिबुद्ध्या किञ्चित् साधारणमपि कर्त्तव्यम्, न केवलं पुरुषोत्तमसम्बन्धीययोरिव तदीयत्वाश्रययोरिव विश्वासं कृत्वा सर्वान्धर्मान्त्यक्त्वा स्थेयम् । यत एते भगवदंशा, सत्वाद्यधिष्ठातारो देवाः । अत एव स्वधर्मं वर्णाश्रमधर्ममनुतिष्ठन्नेव स्यात् । अन्यथा एतदुभयमाश्रित्य तदीययोः पुरुषोत्तमसम्बन्धीयभावेन शारीरधर्मत्यागे प्रयात एव भवेदिति । गुणाधिष्ठातारस्तु विद्यमाने पापे मोचका न भवन्ति । धर्मत्यागजन्यं दूरीकृत्य न ते मोचकाः, सामर्थ्याभावात् । तेन यथा शारीरा धर्मास्तथा तदीयत्वतदाश्रयौ । एवं प्रकारेण, इति सर्वं पूर्वं प्रतिज्ञातं कथितम् । विचार्य सारोद्धारः कृतः, यथा औषधीनां क्वाथः । न तु येभ्य एव लीनः सारस्तेभ्यः पृथक् क्रियते, रुग्णानां रोगनिवर्त्तनार्थम् । एवं लौकिकानामलौकिकानामेकीकृत्य निरूपणे लौकिकेभ्यः स्वकीयेभ्योऽलौकिकानां सारोद्धाररूपेण निरूपणे सामान्येभ्यो विशेषाणां निरूपणं भवति, तेनोभयजातीयानामेकविधनामभिर्निरूपणेऽपि न ज्ञाने भ्रमो भवतीत्यर्थः ॥ १९½ ॥

इति श्रीद्वारकेश्वरविरचिता बालबोधटीका
सम्पूर्णा ।
